

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182787

UNIVERSAL
LIBRARY

हिंदी कवि चर्चा

लेखक
श्री चंद्रबल्ली पांडे

—अज्ञमर

प्रकाशक
सरस्वती-मंदिर
जतनवर, काशी

प्रथम संस्करण]

१९४८

[मूल्य ३॥१)

मुद्रक—

परेशनाथ घोष,

सरला प्रेस, बाँसफाटक, बनारस ।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१—चंद वरदाई	...	१-१६
२—विद्यापति	...	१७-४८
३—कबीर	...	४९-१०२
४—जायसी	...	१०३-१४८
५—मीराँ	..	१४९-१८१
६—सुरदास		१८२-२६४
७—रसखान		२६५-२८५

चंद बरदाई

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जिस महाकवि का नाम आरम्भ में ही बड़े आदर के साथ लिया जाता था उसका नाम अब भी यद्यपि महाकवि चन्द बरदाई के नाम से चल रहा है तथापि यह निर्भ्रान्त रूप से निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः चन्द बरदाई नाम का कोई महाकवि हुआ भी है। महाकवि का होना तो दूर रहा उसके होने में ही सन्देह है। उसके अस्तित्व के मिटाने का जो भ्रम महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी ने किया है वह स्तुत्य किन्तु साथ ही चिन्त्य भी है। इतिहास की दृष्टि से पृथ्वीराज-रासो की त्रुटियों अथवा भ्रमजाल को व्यक्त कर उन्होंने सचमुच बहुत ही स्वच्छ कार्य किया है किन्तु उसी भौंक में जब उन्होंने चन्द बरदाई की सत्ता को भी मिटा दिया है तब उनकी शोध-प्रणाली और तर्कबुद्धि पर कुछ आश्चर्य होता है। कारण यह है कि जयानक के 'पृथ्वीराज-विजय' के आधार पर उन्होंने पृथ्वीराज-रासो की भाँति चन्द बरदाई को भी जाली वा कल्पित वा कोई अन्य चन्द ठहराने का कष्ट किया है उसी से यह स्पष्ट होता है कि सचमुच कोई चन्द्र वा चन्द्रराज नाम का कवि था जो सुवृत्त के संग्रह में बहुत ही पड़ था। जयानक का कहना है—

तनयश्चन्द्रराजोऽस्य चन्द्रराज इवाभवत् ।

संग्रहं यस्य सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात् ॥ (पृथ्वीराज विजय, ५:१४)

इसके चन्द्रराज को श्री ओझा जी ने चन्द्रक कवि का पर्याय माना है और कहा है कि यह वही चन्द्रक हो सकता है जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने किया है। उन्होंने यह भी कहा है जयानक ने पृथ्वीराज के प्रधान भट्ट को पृथ्वीभट्ट कहा है जिससे व्यक्त होता है कि कोई चन्द्र बरदाई पृथ्वीराज का प्रधान भट्ट नहीं था, किन्तु यदि विचार से देखा जाय तो जयानक के 'चन्द्रराज' का क्षेमेन्द्र का ही चन्द्रक मानने का कोई दृढ़ आधार नहीं है। यदि अनुमान और कल्पना को ही मुख्य ठहराना है तो क्यों नहीं यह माना जाय कि चन्द्रराज पृथ्वीराज का प्रधान भट्ट पृथ्वीभट्ट ही है। स्वयं पृथ्वीभट्ट शब्द ऐसा है जा इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि यह जिसकी उपाधि है वह पृथ्वीराज का प्रमुख भट्ट है। रही चन्द्र बरदाई की बात, सो उसमें भी चन्द्रराज का 'चन्द्र' तो है ही। बरदाई शब्द विचारणीय अवश्य है। हमारी दृष्टि में इसका अर्थ है 'बलदाता' जिसका अर्थ है कि यह वह चन्द्र है जो पृथ्वीराज को बल देता है। पृथ्वीराज-रासो में जो चन्द्र बरदाई और पृथ्वीराज के जन्म, मरण और जीवन को एक कर दिया गया है उसका रहस्य भी यही है। अस्तु, हमें तो यह ठीक दिखाई देता कि वास्तव में चन्द्र बरदाई का नाम चन्द्र वा चन्द्रराज ही था, और वह पृथ्वीराज का वैसा ही अभिन्न चारण था जैसा पृथ्वीराज-रासो में दिखाया गया है। और यदि यह ठीक है तो यह कहने में कोई भी दोष नहीं कि बरदाई उसकी उपाधि है और पृथ्वीभट्ट उसका विशेषण है। पृथ्वीराज और पृथ्वीभट्ट में वस्तुतः यहाँ भेद है कि एक राजा और दूसरा भट्ट है। श्री ओझा जी ने जिस चन्द्रक को इस चन्द्रराज का पर्याय माना है उसीका उल्लेख क्षेमेन्द्र ने भी किया है इसका कोई दृढ़ प्रणाम उन्होंने नहीं दिया है और न उसकी कोई रचना ही हमारे सामने रखी गई है। ऐसे चन्द्रक के विषय में जयानक का इस प्रकार श्लेष के द्वारा उल्लेख कर जाना कुछ बहुत नयी-तुली बात तो नहीं ठहरती। सुवृत्तों के सग्रह के समाधान के लिए भी तो कोई वृत्त हाथ लगना चाहिये ? क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि पृथ्वीराज का सम-सामयिक ही नहीं सच्चा सखा के रूप में प्रतिष्ठित परम्परा

से ख्यात चन्द बरदाई तो सुवृत्तों का समग्र-कर्ता न बने और कोई चन्द्रक न जाने किम सुवृत्त का संग्रहकर्ता हो जाय ? अस्तु, हमें तो इसमें कोई सार नहीं दिखाई देता कि जयानक के आधार पर किवा पृथ्वीराज-विजय के प्रमाण पर चन्द बरदाई को सत्ता को ही निर्मूल कर दिया जाय और पृथ्वीराज-रासो में बार-बार आए हुए चन्द को किसी और चन्द का द्योतक समझा जाय । यह तो तभी सम्भव हो सकता है जब यह सिद्ध कर दिया जाय कि वस्तुतः पृथ्वी-राज-रासो की रचना एक ही व्यक्ति ने की है, और उसका भाषा, शैली तथा रंग-ढंग सब एक ही रूप में हमारे सामने आते हैं । स्मरण रहे, आज कोई भी विद्वान इसको नहीं मानता । इतिहासविदों, साहित्य के पण्डितों और भाषा-शास्त्रियों ने भी इस ग्रन्थ को जाल किवा कांप के रूप में ही देखा है । अस्तु, हमें यह कहना पड़ता है कि सचमुच चन्द महाराज पृथ्वीराज का प्रमुख भट्ट था और उसने 'पृथ्वीराज-रासो' की रचना भी की थी, किन्तु कित पृथ्वीराज रासो की यह विचारणीय है ।

'पृथ्वीराज-रासो' में संवत्-सम्बन्धी, घटना सम्बन्धी, शब्द-सम्बन्धी आदि जो भूलें हुई हैं, उनकी संख्या इतनी प्रचुर है कि उसको देखकर किसी के जी में यह नहीं होता कि 'पृथ्वीराज-रासो' का सच्चा ग्रन्थ मान लिया जाय । यह सच है कि 'पृथ्वीराज-रासो' को चन्दकृत ठहराने का बहुत ही घोर श्रम हुआ । यहाँ तक कि पृथ्वीराज के समय के कुछ बनावटी पट्टे भी निकल आये । किन्तु इसका परिणाम उलटा हुआ ; दोनों एक ही चट्टे-बट्टे के जीव निकल आए और श्री ओझाजी के शब्दों में सिखाये हुए गवाह ने और भी बात बिगाड़ दी । और यह भी सच है कि श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने जो श्री 'टाड' के संकेत पर 'भटायत सवत्' की उद्भावना की थी और सांचा था कि 'पृथ्वीराज-रासो' के सवत् में १०० जोड़ देने से काम सध जायगा ? वह निष्फल गया और उनकी यह उक्ति भी व्यर्थ गई कि पृथ्वीराज-रासो में जो पृथ्वीराज के जन्म का दोहा है उसमें 'अनन्द' का अर्थ है 'नन्द रहित' । इस 'अनन्द' में उन्हें जो नन्द मिला तो उन्होंने इसे नव का द्योतक मान लिया और बड़ी उत्परता से

कहा कि सौ में से ९ निकाल देने पर जो इक्यानबे (९१) शेष रह जाता है उसे पृथ्वीराज-रासो के संवत् में जोड़ देने से उसके संवत् ठीक निकल आते हैं । इनका आधारभूत दोहा यह है:—

“एकादश से पंचदश, विक्रम साक अनंद ,

तिहिरूप जयपुर हरन को भय पृथिवीराज नरिंद ।”

पहले तो इस दोहे का उपयोग उन्होंने भटायत संवत् के १०० के लिये किया था और फिर इसी को आनन्द संवत् के ९१ के लिये किया । जिससे उनके प्रति लोगों की अश्रद्धा हो गई । यद्यपि मिश्र-बन्धुओं ने इस हेतु का बहुत सत्कार किया तथापि इसका परिणाम कुछ अच्छा न निकला और बीसों उदाहरणों के द्वारा श्री ओझा जी ने सिद्ध कर दिया कि यह भी संभव नहीं । यदि संवत् ही की बाधा होती तो कोई बात नहीं । इस छिद्र में तो बहुत से अनर्थ हैं । स्वयं महाराज पृथ्वीराज की माता बहिन, स्त्री आदि के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं वे भी खरी नहीं उतरतीं । यहाँ तक कि उनका नाम कुल और सम्बन्ध भी ठीक नहीं बैठता । यह एक ऐसी भूल है जिसका समाधान किसी प्रकार नहीं हो सकता । चौहान वंश की जो उत्पत्ति रासो में मानी गई है और उसकी जो वंशावली रासो में दी गई है वह न तो ‘पृथ्वीराज-विजय’ की वंशावली से मेल खाती है और न विजोलियाँ के लेख से अस्तु किसी भी ठोस इतिहास के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि रासो की वंशावली ठीक है । रासो चौहानों को अग्निवंशी मानता है किन्तु वे इतिहास में माने गये हैं सूर्यवंशी । यदि किसी प्रकार तर्क-वितर्क के द्वारा सूर्य और अग्नि के भेद को मिटाया भी जाय तो इसके लिए क्या किया जायगा कि रासो में पृथ्वीराज के पूर्वजों और परिवार का वृत्त भी ठीक नहीं है । इतिहास की भूलें भी सामान्य नहीं है । मेवात में मुगलों और बीदर में मुसलमानों का शासन पृथ्वीराज के समय में वा उनसे और भी पहले कैसे सिद्ध किया जायगा और कैसे यह बताया जायगा कि रासो में जो ‘मीर आतिश’ ‘खान’ जैसे शब्दों का इतना प्रयोग हुआ है वह पृथ्वीराज के समय में भी था । रासो में जो अरबी, फारसी और

तुर्की शब्दों की बहुलता है उसका सामाधान तो आप इस प्रकार कर सकते हैं कि चन्द का जन्म लाहौर में हुआ था और लाहौर महमूद गजनवी के समय में ही तुर्की शासन का केन्द्र बन गया था, किन्तु आप श्री महमूद शेरानी के इस आक्षेप को कैसे दूर कर सकते हैं कि रासो मुगलों के समय में बना। कारण कि उनसे पहले भारत में इन शब्दों का व्यवहार था ही नहीं। यही क्यों, अन्यत्र भी दुर्लभ था। किसी प्रकार 'खान' जैसे शब्द को इधर उधर कर लें क्यों कि इन मंगोली खानों से कुछ न कुछ पहले भी भारत का परिचय था ही और साहित्य में इसका प्रयोग भी पाया जाता है। किन्तु 'मीर आतिश' जैसा पदवी सूचक शब्द तो मुसलमानी इतिहास में मुगलों के समय में ही आता है। विषय को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं। श्री ओझा और श्री शेरानी ने रासो को इधर की रचना ठहराने में कुछ अति भले ही कर दी हो पर कोई भी व्यक्ति उनकी शोधों को देख कर यह नहीं कह सकता कि उनका पक्ष किसी प्रकार भी दुर्बल वा निर्मूल है। हाँ, यदि उनके पक्ष को संक्षेप में देखना हो तो 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित 'कोशोत्सव-स्मारक संग्रह' तथा लाहौर की 'ओरियंटल कालिज' मेगज़ीन के १९३४ से १९३७ तक के अकों को देखना चाहिए।

महमूद शेरानी साहब ने और भी बहुत ही रोचक और मनोरंजक ढंग से रासो की खिलियाँ उड़ाई हैं और कुछ अपनी अनभिज्ञता अथवा अल्पज्ञता के कारण रासो को शाहजहाँ के समय की रचना मानने का संकेत किया है। उनका यह कहना है कि रासोको पद्यावली 'पद्मावत' का प्रभाव है अवथा रासो में शहाबुद्दीन गोरी को मस्रजुद्दीन न लिखना मुगल काल का प्रभाव है ठीक नहीं प्रतीत होता। किन्तु तो भी यह तो मानना ही पड़ता है कि उनकी यह पकड़ पक्की है कि समस्त रासो मुगली शासन से पहले की चीज नहीं है।

रासो का जो वर्तमान रूप है यह कब बना इसका भी ठीक ठीक पता बताना कठिन है। तो भी यह कहा जा सकता है कि संवत् १८०० विक्रमी के लगभग एक लाख पाँच सहस्र परिमाण का रासो विद्यमान था। क्योंकि चन्द के वंशज कवि जदुनाथ ने वृत्त-विलास नामक ग्रन्थ में लिखा है—

पाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री जी को भेंट किया था जो यत्र-तत्र प्रकाशित भी हो चुका है। उन्होंने अपनी पूरी प्रति की परीक्षा अब तक क्या नहीं कराई, यह नहीं कहा जा सकता। उसका जो अंश देखने में आया है उसकी भाषा अवश्य ही वर्तमान रासो की भाषा से व्यवस्थित है किन्तु इतनी थोड़ी है और केवल एक ही 'समय' की है कि इसके आधार पर कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त यह भी भूलना न होगा कि मुनि जिनविजय जी को जो चन्द बरदाई के चार छप्पय मिले हैं उनकी भाषा से नानूराम की प्रति की भाषा का मेल नहीं है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि मुनि जिनविजय जी को जो छप्पय मिले हैं वे ही मूल पृथ्वीराज रासो के रूप हैं। इनमें से तीन तो किमी न किमी रूप में 'नागरी-प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित रासो में भी मिलते हैं ? शेष का पता अभी नहीं चलता। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि इनमें से एक में 'चन्द बलहड्ड' की छाप भी है। देखिये—

‘इक्कु वाणु पडुवीसु जु पडै कइवासह मुक्कओ .
उर भितरि खडखडिउ धीर कक्वन्तिर चुक्कउ ।
वीअँ करि संघीउं भंमइ सोमेसर नंदण !
एहु सु गडि दाहिमओं खणइ खुइइ संइभरिवणु ।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह ।
न जाणउँ चंदचलहड्ड किं न विछट्टइ |इह फलह ॥’

‘नागरी-प्रचारिणी सभा’ से प्रकाशित रासो पृष्ठ १४९६, पद्य २३६ में इसका रूप यह है—

“एक बान पडुमी नरेस कैमासह मुक्यौ ।
उर उपर थरहस्यौ बीर कप्पतर चुक्यौ ॥
बियौ बान संधान हन्यौ सोमेसर नंदन ।
गाढै करि निग्रह्यौ पनिव गडुयौ संभरिधन ॥

थल छोरि न जाइ अभागरौ गाढ्यौ गुन गहि भागरौ ।

इम जपै चंद बरदिया कहा निघटै ह्य प्रलौ ।”

[पुरातन प्रबन्ध संग्रह, प्रस्तावना पृ० ९; सिंधी जैन ग्रन्थ माला]

ध्यान देने की बात यहाँ यह भी है कि यही छन्द बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति में, जो संवत् १६५७ क लगभग लिखी गई, इस रूप में मिलता है—

“एकु बान पुहुमी नरेस कैवास हि मुक्कौ ।

उर उप्पर खर हन्यो वीरु कषहंतर चुक्कौ ॥

वियो बाँन संधान हन्यो सोमेसर नंदन ।

गहौ करि निग्रह्यौ पन्यो रड्यौ संभरि-नदन ॥”

[ना० प्र० प०, सं० १९९६, पृ० २७९]

और नागरी-प्रचारिणी सभा की जिस प्रति का आधार लेकर ‘पृथ्वीराज रासो’ का सम्पादन किया गया है वह संवत् १७३२ की लिखी हुई है। मुनि जिनविजय ने पुरानन-प्रबन्ध-संग्रह से जो छप्पय उद्धृत किया है उसकी संवत् १५२८ की प्रतिलिपि प्राप्त है और प्रतीत होता है कि “नागेन्द्र गच्छ के आचार्य उदयप्रभ सूरि के शिष्य जिनभद्र ने, मंत्रीद्वर वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिंह के पढ़ने के लिए, संवत् १२९० में, इस नाना-कथानक-प्रधान प्रबन्धावलि की रचना की।” क्या ही अच्छा होता जो इधर भी ध्यान जाता, और क्या अच्छा न होता कि जहाँ जहाँ ‘पृथ्वीराज रासो’ की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें भी इन छन्दों को ढूँढ़ा जाता और उन सबको एकत्र कर लिया जाता जिससे भाषा की दृष्टि से ही सही रासो के विकास पर कुछ तो प्रकाश पड़ता। श्री अगरचन्द नाहटा ने बड़े श्रम से वीर-गाथा काल के जैन-साहित्य की भाषा के उदाहरण नागरी-प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४६, अंक ३ में प्रस्तुत कर दिया है जिनसे प्रकट होता है कि पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में जो छन्द दिये गये हैं उनकी भाषा अपने काल के अनुकूल ही है। जो हो वहाँ

पाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री जी को भेंट किया था जो यत्र-तत्र प्रकाशित भी हो चुका है। उन्होंने अपनी पूरी प्रति की परीक्षा अब तक क्या नहीं कराई, यह नहीं कहा जा सकता। उसका जो अंश देखने में आया है उसकी भाषा अवश्य ही वर्तमान रासो की भाषा से व्यवस्थित है किन्तु इतनी थोड़ी है और केवल एक ही 'समय' की है कि इसके आधार पर कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त यह भी भूलना न होगा कि मुनि जिनविजय जी को जो चन्द बरदाई के चार छप्पय मिले हैं उनकी भाषा से नानूराम की प्रति की भाषा का मेल नहीं है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि मुनि जिनविजय जी को जो छप्पय मिले हैं वे ही मूल पृथ्वीराज रासो के रूप हैं। इनमें से तीन तो किसी न किसी रूप में 'नागरी-प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित रासो में भी मिलते हैं ? शेष का पता अभी नहीं चलता। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि इनमें से एक में 'चन्द बलहिउ' की छाप भी है। देखिये—

‘इक्कु वाणु पहुवीसु जु पई कहवासह मुक्कओ .
 उर भितरि खड़खड़िउ धीर कक्खंतिर चुक्कउ ।
 वीअँ करि संधीउं भंमइ सोमेसर नंदण !
 एहु सु गडि दाहिमओं खणइ खुइइ संइभरिवणु ।
 फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह ।
 न जाणउँ चंदचलहिउ किं न विछट्टइ |इह फलह ॥’

‘नागरी-प्रचारिणी सभा’ से प्रकाशित रासो पृष्ठ १४९६, पद्य २३६ में इसका रूप यह है—

“एक बान पहुमी नरेस कैमासह मुक्क्यौ ।
 उर उपर थरहस्यौ बीर कक्खतर चुक्क्यौ ॥
 बियौ बान संधान हन्यौ सोमेसर नंदन ।
 गाढै करि निप्रस्यौ पनिव गहुच्यौ संभरिधन ॥

थल छोरि न जाइ अभागरौ गाळ्यौ गुन गहि भागरौ ।

इम जंपे चंद बरदिया कहा निघटै इय प्रलौ ।”

[पुरातन प्रबन्ध संग्रह, प्रस्तावना पृ० ९; सिंधी जैन ग्रन्थ माला]

ध्यान देने की बात यहाँ यह भी है कि यही छन्द बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति में, जो संवत् १६५७ क लगभग लिखी गई थी, इस रूप में मिलता है—

“एकु बान पुहुमी नरस कैवास हि मुक्कौ ।

उर उप्पर खर हन्यो वीर कषहंतर चुक्कौ ॥

त्रियो बान सधान हन्यो सोमेसर नदन ।

गहौ करि निग्रह्यौ पन्यो रड्यौ संभरि-नदन ॥”

[ना० प्र० प०, सं० १९९६, पृ० २७९]

और नागरी-प्रचारिणी सभा की जिस प्रति का आधार लेकर ‘पृथ्वीराज रासो’ का सम्पादन किया गया है वह संवत् १७३२ की लिखी हुई है। मुनि जिनविजय ने पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह से जो छप्पय उद्धृत किया है उसकी संवत् १५२८ की प्रतिलिपि प्राप्त है और प्रतीत होता है कि “नागेन्द्र गच्छ के आचार्य उदयप्रभ सूरि के शिष्य जिनभद्र ने, मंत्रीद्वर वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिंह के पढ़ने के लिए, संवत् १२९० में, इस नाना-कथानक-प्रधान प्रबन्धावलि की रचना की।” क्या ही अच्छा होता जो इधर भी ध्यान जाता, और क्या अच्छा न होता कि जहाँ जहाँ ‘पृथ्वीराज रासो’ की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें भी इन छन्दों को ढूँढ़ा जाता और उन सबको एकत्र कर लिया जाता जिससे भाषा की दृष्टि से ही सही रासो के विकास पर कुछ तो प्रकाश पड़ता। श्री अगरचन्द नाहटा ने बड़े श्रम से वीर-गाथा काल के जैन-साहित्य की भाषा के उदाहरण नागरी-प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४६, अंक ३ में प्रस्तुत कर दिया है जिनसे प्रकट होता है कि पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में जो छन्द दिये गये हैं उनकी भाषा अपने काल के अनुकूल ही है। जो हो यहाँ

यह प्रश्न अपने आप ही उठ खड़ा होता है कि कवि चन्द ने रचना किस भाषा में की। सो रासो में स्पष्ट कहा गया है —

‘उक्लिधर्मविशालस्य राजनीति नवं रसम् ।

षट्भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया ।’ (आदिपर्व, छन्द ८३)

इसके षट्भाषा शब्द को लेकर रासो में परम्परागत षट् भाषाओं का दर्शन तो किया ही जाता है साथ ही ‘कुरानं’ से अरबी फारसी का अर्थ भी निकाल लिया जाता है। किन्तु यह ठीक नहीं है। ‘कुरान’ का सम्बन्ध ‘पुराण’ से है षट्भाषा से नहीं। यदि षट् भाषा का अर्थ स्वतन्त्र रूप से अलग अलग षट्भाषाओं का होता तो कोई बात न थी, किन्तु यहाँ तो एक ही छन्द में कई रूप दिखाई दे जाते हैं। इसका कारण यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं चन्द ने ही ऐसा किया। यह लेखकों का प्रमाद और शोधकों का प्रसाद भी हो सकता है। कहा जाता है कि डिंगल के कवि आज भी एक ही ग्रन्थ में नाना प्रकार की भाषा तथा रूपों का प्रयोग कर जाते हैं और भाषा में ओज लाने के लिये द्वित्व वर्णों का ही अधिक प्रयोग नहीं करते बहुत से वर्णों को द्वित्व का रूप भी दे देते हैं और अनुस्वार का प्रयोग तो यों ही कुछ अनुनासिक बनाने के लिए भी कर जाते हैं। इसका कारण भी है। रणभूमि में नाद का जितना प्रभाव पड़ता है मात्रा का नहीं। किन्तु क्या यही बात रासो के विषय में भी कही जा सकती है। आज हम संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश को जितना भूले हुए हैं क्या उनका ही भूलना उस समय भी सम्भव था? सो भी चन्द बर-दाई जैसे कुशल कवि से? नहीं ऐसा मानने का कोई दृढ़ आधार नहीं। वस्तुतः होना तो यह चाहिये कि रासो की रचना भी उसी भाषा में हुई जिसमें उस समय के अन्य जैन-रासाओं की और जो आज भी ‘पुरातन प्रबन्ध संग्रह’ में उपलब्ध है। प्रसंगवश अब रासो शब्द पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिये। प्रकाशित रासो की पुष्पिका में कहा गया है—

‘इति श्री कविचन्दविरचिते प्रभिराजरासके आदिपर्व नाम प्रथम प्रस्ताव सम्पूर्णम् ।’

इससे सिद्ध ही है कि 'प्रथिराज रासके' पृथ्वीराज रासो का द्योतक है और 'रासक' रासा का शुद्ध संस्कृत रूप। तो इस रासक का रहस्य क्या है ? कहने की बात नहीं कि रासक की गणना रूपक किं वा उपरूपक में हुई है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'पृथ्वीराज रासो' रासक के रूप में रचा गया। कहा भी गया है—

‘सहस्र सत्त रूपक सरस गुण सुन्दर बहु वित्त,

ले पुस्तक कवि चन्द का दिय माता बहु रित्त ॥’ (६७, ५०)

इतना ही नहीं, यदि आप इस रासक को सामने रख कर 'पृथ्वीराज रासो' पर विचार करें तो आप ही अवगत होगा कि यही कारण है कि रासो का आरम्भ नट-नटी की भाँति कवि चन्द और उनकी पत्नी, को लेकर हुआ है और आगे भी यह रूप बना रहा है। तो क्या इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि वस्तुतः रासो की रचना प्रदर्शन की दृष्टि से हुई थी और प्रतापी महाराज पृथ्वीराज की कीर्ति का कीर्तन ही इस प्रकार किया जाता था। स्मरण रहे, स्वयं रासो में कहा गया है—

‘आसा महीव कव्वी नव नव कित्तिय सग्रह ग्रन्थ .

सागर सरिस तरंगी बोहत्यय उक्तियं चल्य ॥’ (१, ८६)

यहाँ जिस सग्रह का उल्लेख किया गया है वही तो जयानक के पृथ्वी-राज-विजय में भी विराजमान है। तो फिर इसका अर्थ यह क्यों न निकाला जाय कि वस्तुतः पृथ्वीराज-रासो महाकाव्य नहीं सग्रह अथवा कोष काव्य ही है। इसका ध्येय चरित लिखना नहीं चरित के मुख्य-मुख्य अंगों को उभार दिखाना है। तात्पर्य यह कि प्रदर्शन की वस्तु होने तथा इसके अधिक प्रचार के कारण मुख-मुख-न्याय के अनुकूल अथवा काल चक्र की कृपा से, देश-काल के परिणाम-स्वरूप इसकी भाषा के अनेक रूप हो गये और जब इसका संकलन और संपादन हुआ तब किसी के सामने भाषा का प्रश्न ही नहीं रहा। और यह हुआ भी अच्छा ही, नहीं तो आज एक रासो में भाषा के इतने भिन्न-भिन्न रूप कैसे दिखाई देते और हम रासो को अपने समय का प्रतिनिधि

काव्य ही नहीं अपितु अपनी संस्कृति तथा अपनी भाषा का भी प्रतिनिधि-रूप कैसे मानते ? आज का रासो कवि चन्द का रासो नहीं किन्तु उनके वंश का रासो अवश्य है । आज का रासो पृथ्वीराज का रासो नहीं किन्तु किसी राणा अथवा हिन्दू वीर का रासो अवश्य है । सच तो यह है कि इस रासो में पृथ्वीराज को वही स्थिति है जो लोक गीतों में राम की । और चन्द की भी वही स्थिति है जो उक्त गीतों में तुलसी की । 'थोर बनावें कबीरदास ढेर बनावें कविता' का यही तो प्रभुत्व है । हम पहले देख चुके हैं कि रासो में 'सहस्र सत् रूपक सरस' का निर्देश है जिसका 'सहस्र सत्' इस बात का प्रमाण है कि कवि चन्द की रचना 'सप्तसहस्र' ही थी । किन्तु आज रासो की स्थिति 'सप्तसहस्र' नहीं 'शतसहस्र' है । रासो में आदि पर्व में ही कहा गया है—

‘शत सहस्र नख-सिख सरस सकल आदि मुनि दिष्य

घट बड़ मत कोऊ पढ़ौ मोहि दूषण न वसिष्य ।’ (१, ९०)

रासो के सम्पादकों ने इस 'सप्तसहस्र' का अर्थ 'शतसहस्र' लिया है जो प्रकाशित रासो के सर्वथा अनुकूल है किन्तु कोई कारण नहीं कि जब 'सप्तशती' 'सप्तसहस्र' के रूप में बदल जाती है तब 'सप्तसहस्र' 'सप्तसहस्र' क्यों न हो जाय ? जो हो, इतना तो मानना ही होगा कि यह 'शतसहस्र' किंवा एक लाख की रचना कवि चन्द की नहीं और उसके पुत्र जल्हण की भी नहीं, क्योंकि वर्तमान रासो में उसकी संख्या उसके हाथ में पहुँचने के पहले ही 'सप्तसहस्र' क्या 'सप्तसहस्र' से भी आगे बढ़ जाती है । अस्तु, निष्कर्ष यह निकला कि वर्तमान रासो को लेकर चन्द बरदाई की भाषा पर विचार करना प्रमाद होगा, विचार नहीं । साथ ही इतना और भी स्पष्ट कर देना है कि जो लोग कागद बाँचने के प्रयोग को रासो में देख कर उसे झुहर की रचना समझते हैं, उन्हें यह भी जानना चाहिये कि पंडित मंडली में पत्री आज भी बाँची ही जाती है और कागद शब्द है भी 'कागज' से पुराना ।

रासो के प्रसंग में ढिंगल और पिंगल का प्रश्न भी उठता ही रहता है । प्रश्न का समाधान तो हो नहीं पाता होता बह है कि ढिंगल और पिंगल में

ही विवाद उठ जाता है । कुछ लोग कहते हैं पिंगल के ढंग पर डिंगल बना दूसरे लोग बोलते हैं ऐसा हो नहीं सकता डिंगल पिंगल से पुराना है । इसका कदाचित् कारण यह है कि इन लोगों को इसका पता नहीं कि पिंगल का अर्थ ब्रजभाषा नहीं शिष्ट भाषा है । ब्रजभाषा की रचना के पहले भी पिंगल का प्रयोग होता था और छन्द के प्रकरण में पिंगलाचार्य को कौन नहीं जानता ! पिंगल में रचना सदा से होती आई है और होती रहेगी भी । किन्तु साथ ही पिंगलबन्धुओं का पिंगल छाँटना भी चलता ही रहेगा । पिंगलबन्धु यदि पिंगल को छोड़ कर पिंगल के ढंग पर अपनी देश-भाषा में रचना करेंगे तो वह डिंगल नहीं तो और क्या होगी । डिंगल और कुछ नहीं इन पिंगली लोगों की काव्य-भाषा है । यही कारण है कि डिंगल में जहाँ प्राकृत और अपभ्रंश के रूप मिलते हैं वहीं ठेठ के भी । डिंगल को 'डगर,' 'डगल,' 'डिम + ल,' 'डोंग + ल' आदि का रूपान्तर समझना ठीक नहीं जँचता । इसका सीधा संकेत पिंगल के आधार पर रची हुई ठेठ रचना ही है । हमें भूलना न होगा कि डिंगल में जो हेय की भावना है वह पिंगल के विचार से है । कौन नहीं जानता कि गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपनी वाणी को 'गिरा-प्राम्य' ही कहा है और बड़े बड़े सम्राटों की प्रशस्तियाँ भी प्राकृत में लिखी गई हैं । नाम से मामी का बोध होता है तो हो, परन्तु यह तो सत्य है कि नाम नामदाता की समझ का परिचायक होता है न कि नामी की शक्ति और प्रतिभा का । अतएव यह कहना कि डिंगल इसी लिए प्राम्य-गिरा का द्योतक नहीं कि इसमें बड़े बड़े रासा बने हैं, ठीक नहीं । कहने का तात्पर्य यह नहीं कि रासो की रचना डिंगल में हुई, प्रत्युत यह है कि वह आज बहुत कुछ डिंगल के रूप में ही हमारे सामने है उसके पिंगल का पता लगाना पण्डितों का कार्य है सामान्य वाग्भटों की चिन्ता नहीं ।

रासो की रचना के सम्बन्ध में एक और बात भी कही गई है । कहते हैं—

‘उभय मास दिन अद्द वर किय रासो चहुआन ,
रसना भट्ट सुचन्द की बेलि उमा परमान’ ।

इसमें 'उभय मास' तो अवश्य ही दो मास अथवा ६० दिन का द्योतक है। किन्तु 'दिन अद्ध वर' का अर्थ ठीक ठीक नहीं खुलता। यदि दिनअद्ध का अर्थ 'आधा दिन और 'वर' का अर्थ 'वार' अथवा सात लिया जाय तो सब मिलकर साढ़े सरसठ दिन में चन्द ने रासो की रचना की। विशेष बात तो यह है कि यह दोहा सरसठवें समय का दोहा है और इसकी छन्द संख्या ४९ है और इसी के उपरान्त हम 'सहस सत्त रूक सरस' के उक्त निर्देश को पाते हैं। तो क्या इससे यह स्वतः स्पष्ट नहीं हो जाता कि एक दिन में एक समय की रचना हुई और रचना हुई इन निमित्त से कि लोग उसके अभिनय को देखे, उसके वृत्त को सुने और पृथ्वीराज के महत्त्व को मानें ? रासक नाम भी तो इसी को चरितार्थ करता है ?

काव्य की दृष्टि से इस काव्य का महत्त्व क्या होगा इसके विषय में कुछ विशेष रू से कहना उचित नहीं होगा, फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि जिसके वृत्त की प्रशंसा उसी के समय के कवि जयानक ने की है और जिसके आधार पर इतना बड़ा वृत्त और विशालकाय ग्रन्थ खड़ा हुआ है वह अवश्य ही उच्चकोटि का काव्य रहा होगा। इसके सम्बन्ध में रासों में यह भी कहा गया है कि जो इसको विधिपूर्वक नहीं सुनेगा उसी को इसमें कुछ और दिखाई देगा ; कारण यह कि इसमें मानव-जीवन का कोई अंग छूटा नहीं है। एक एक काव्य वर्णन अनेक अनेक ढंग से हुआ है जो कहीं प्रगट है कहीं गुप्त। इसमें वीरता ही नहीं विलास भी है, धर्म ही नहीं काम भी है, अर्थ ही नहीं मुक्ति भी है। कहा गया है—

‘कुमति मति दरसत तिहि, विधि विना न श्रव्दान,
तिहि रासो जु पवित्र गुण सरसौ ब्रज रसान’ । (१, ८९)

“इस ग्रन्थ की महिमा तो यह है—

“काव्य समुद्र कवि चन्द कृत, मुगति समपन ज्ञान,
राजनीति बोधित सुफल, पार उतारन बान ।” (१, ८०)

संक्षेप में कहना यही है कि चन्द बरदाई ने अपने रासक को सभी प्रकार से रसपूर्ण बनाने का प्रयत्न अवश्य ही किया होगा और अवश्य ही इसमें पृथ्वीराज की कीर्ति के साथ ही साथ काव्य का कौशल भी दर्शाया गया होगा। वर्तमान रासो भी इसका प्रमाण है। किन्तु कहाँ कितनी कविता इसमें कवि चन्द की है और कितनी किसी और की चन्द की यह कहना अभी तो कठिन ही है, आगे की राम जाने। राम का अर्थ है हिन्दी के हितैषी और रासो के अभिमाना। रासो का जो सम्पादन आज से ७० वर्ष पूर्व एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के द्वारा हो रहा था और जो प्रसिद्ध पुरातत्त्व-वेत्ता डाक्टर बूलर के अनुरोध से स्थगित कर दिया गया सो तो स्थगित ही रहा, इधर नागरी-प्रचारिणी सभा ने भी उसका प्रकाशन करके भी उसकी ओर से अपना मुँह मोड़ लिया है। उसको जाली सिद्ध करने का जो प्रबल प्रयास हुआ उसका सुखद परिणाम इससे और अधिक भला क्या हो सकता था ! जोधपुर के श्री मुरारिदान और उदयपुर के श्री श्यामलदास की शोध को श्री ओझाजी ने पूर्ण कर दिया अब दूसरी ओर की शोध की बारी है जिसका सूत्रपात मुनि जिन विजय जी ने कर दिया है। अब उसको पूरा करना श्रम, शक्ति और शील के हाथ है। किन्तु उसका होना है परम आवश्यक। उसे अधूरा छोड़ना शोध के क्षेत्र में कलंक है और हिन्दी के लिये घातक भी। क्या 'सभा' इसकी भी कुछ सुधि लेगी ? सुना है ओरियंटल कालेज, लाहौर के पुस्तकालय में भी कोई पृथ्वीराज रासो है जिसे लोग अधिक ठीक समझते हैं। उसकी भी जाँच होनी चाहिए। जाँच की एक कसौटी तो जिनविजय मुनि के दिए गए छप्पय ही हैं। जिन विजय जी ने पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में जो तीन छप्पय उद्धृत किए हैं उनमें से एक पहले या चुका है, शेष दो ये हैं—

अगदु म गहि दहिभआ रिपुरायखय करु,

कूँ मनु मम ठवयों एहु जबय (प ?) मिलि जगारु ।

सह नामा सिखखवउँ जइ सिखिखविउँ बुझई,

जपइ चदबलिहु भज्ज परभक्खर सुझई ।

पहु पहु विराय सङ्गं भरिभरणी सपंभरि सउसाइ संभरिमि,
कह बास विप्रास विसहवियणु, वल्लि वंधिवद्धाँ गरिसि ।

पृष्ठ ८६ पद्यांक (२७६)

चिरीह लक्षतु पार सबल पावरी भइँजसु हय ,
चऊ रहस्य मयमत्त दंति गज्जहि महामय ।
वीसलक्ख पायक सफर प्यारक धणुदुर ,
लसहु अरु बलयान संखकु जाणइ तांह पर,
छत्तसिलक्ष नराहिदई विहि विनडिओ हेतकिन भयउ ।
ज यचन्द न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूड कि धरि गयउ

पृष्ठ ८८ पद्यांक (२८७)



२-विद्यापति

विद्यापति और बिहारी हिन्दी के उन कवियों में से हैं जिनको लोग चाहते तो नहीं पर मानते अवश्य हैं। और ऐसा मानते हैं कि पाठ्य के रूप में छात्रों के सामने उन्हें रख भी देते हैं। और ऐसा देखने में भी आता है कि प्रायः लोग विद्यापति और बिहारी को किसी न किसी रूप में पढ़ लेना उचित समझते हैं। जानकारी के लिए, कला के लिए, रस के लिए, चाहे जिस किस के लिए, किन्तु पढ़ते उन्हें अवश्य हैं। इनमें बिहारी की गणना तो कभी भक्तों में नहीं हुई किन्तु विद्यापति भक्त भी माने गये। नाभादास के 'भक्त-माल' में उनका उल्लेख हुआ है सन्तों की सूची में उनका नाम यत्र-तत्र मिलता है और चैतन्य मण्डली में तो उनके पदों का कीर्तन ही होता है। कदाचित् यही कारण है कि विद्यापति के विषय में लिखते समय प्रायः यह विचार भी उठता है और परीक्षा से लेकर पोथियों तक इसका विचार भी होता है कि वास्तव में विद्यापति शृंगारी थे अथवा भक्त। हमारी समझ में इस शृंगारी और इस भक्त को लोग जिस दृष्टि से देखते हैं वह दृष्टि ही ठीक नहीं। कारण यह कि शृंगारी और भक्त में विरोध नहीं। भक्त शृंगारी हो सकता है और शृंगारी भक्त भी। कात भाव की जो उपासना होगी वह शृंगार से दूर नहीं जा सकती। उसको शृंगार के सहारे ही चलना होगा। यही कारण है कि कबीर जैसे सुधारक और रूखे व्यक्ति को भी—

“काम मिलावै राम को, जो कोई जानै भेव”

कबीर विचारा क्या करे, यों कह गया शुक्रदेव।

का उद्घोष करना ही पड़ा; और राधा माधव के विलास को भी कुछ न कुछ लेना ही पड़ा। और तो और गोस्वामी तुलसीदास को भी, 'गीतावली' के अन्त में कुछ केलि का विधान करना पड़ा और 'बरवै रामायण' तथा 'नहछू' में कुछ इसकी बानगी भी

दिखानी ही पक्षी । 'विध्य के वासी उदासी' में भी कुछ ऐसा ही रङ्ग उड़ाया गया और 'विनयपत्रिका' के अन्त में भी 'नागरि ज्यों नागर नवीन' को अथवा 'राम-चरितमानस' में 'कामिहि नारि पियार जिमि' का निर्देश कर इसके महत्व को मानना पड़ा । तात्पर्य यह कि शृंगार की मूल भावना अथवा रति का क्षेत्र इतना व्यापक और निगूढ़ है कि उससे प्रकृति का कोई कोना रिक्त नहीं उससे घट-घट अभिषिक्त है । कहा जाता है कि विद्यापति ने जो शृंगार को लिया है वह वासना अथवा दरबारी कामुकता के कारण ही, नहीं तो शैव होते हुए उन्हें राधा-माधव की क्यों स्मृति ! कहने को तो यह बहुत ही सरल तथा स्वाभाविक है किन्तु सिद्ध करने में अत्यन्त ही कठिन । इस जटिलता के मूल में तत्त्व दृष्टि नहीं युग की प्रवृत्ति है । प्रवृत्ति, प्रकृति को बदल नहीं सकती, किन्तु उसके रूप को बदल देती है । इसमें सन्देह नहीं कि उसका वही रूप हमें रुचता है जो हमारी रुचि के अनुकूल होता है और हमारी रुचि वही होती है जो देशकाल के अनुसार अपना रंग बना लेती है अन्यथा शैव होते हुए भी महाकवि कालिदास शिव और पार्वती के शृंगार का खुला वर्णन न करते और उपनिषदों में भी इसका प्रसङ्ग ऐसा न आता कि आज उसका हिन्दी अनुवाद करने में भी लोगों को संकोच होता । यद्यपि आज-कल का प्रगतिवाद इस प्रवृत्ति और इस रुचि के मोड़ने में लगा है तथापि उससे कुछ हो नहीं सकता । कारण कि उसमें संयम नहीं सनक या उन्माद है । विद्यापति ने शैव होते हुए भी अपने गीतों में शिव को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना कि माधव को । उनका एक पद है जिसमें कहा गया है—

तातल सैकत बारि बिन्दु सम,
 सुत-मित रमनि समाज ।
 तोहे बिसारि मन ताहे समर्पिन,
 अंब मझु हब कोन काज ।
 माधव हम परिनाम निरासा,
 तुहुँ जग तारन दीन दयामय,
 अतए तोहर बिसबासा ।

आष जनम हम नींदु गमायन ,
 जरा सिसु कत दिन गेला ।
 निधुवन रमनि रभस रंग मातन ,
 तोहे भजव कोन बेका ।
 कत चतुरानन मरि मरि जाओत ,
 न तुव आदि अवसाना ।
 तोहे जनम पुन तोहे समाओत ,
 सागर लहरि समाना ।
 भनहि विद्यापति सेस समन मय ,
 तुव बिनु गति नहौ आरा ।
 आदि अनादि नाथ कहाओसि ,

अब तारन भार तुहारा ॥ २५४ ॥

इसमें माधव को जो परात्पर मूल माना गया है उसको दृष्टि में रखकर इस पद पर भी ध्यान दीजिए—

माधव बहुत मिनति कर तोय ।
 दए तुलसी तिल देह समर्पिनु ,
 दय जनि घाबि मोय ।
 गनइत दोसर गुन लेस न पाओबि ,
 जब तुहुँ करबि विचार ।
 तुहु जगत जगनाथ कहाओसि ,
 जग बाहिर न इ छार ॥
 किए मानुस पशुपखि भए जनमिए ,
 अथवा कीट पतंग ।
 करम विपाक गतागत पुनु पुनु ,
 मति रह तुअ परसंग ।
 भनइ विद्यापति अतिसय कातर ,
 तरइत इह भव-सिन्धु ।

तुअ पद-पल्लव करि अबलम्बन ,
तिल एक देह दिनबन्धु ॥ २५३ ॥

प्रथम पद के “तोहे जनम पुनि तोहे समाओल सागर लहरि समाना” के साथ इस पद की ‘करम विपाक गतागत पुनु पुनु अति रह तुअ परसंग’ की घोषणा पर विचार करने के उपरान्त कोई कह नहीं सकता कि विद्यापति सचमुच शैव थे, वैष्णव नहीं। इतना ही नहीं, विद्यापति के अवसान का जो पद कहा जाता है वह भी कोरे विराग का नहीं। लीजिये कहते हैं—

दुल्लहि तोहरि कतए छयि माय ।
कहुन ओ आबथु एखन नहाय ॥
बृथा बुझथु संसार बिलास ।
पल पल नाना तरह क त्रास ॥
माय बाप जौ सदगति पाव ।
संतति कौ अनुपम सुख आव ॥
विद्यापतिक आयु अवसान ।
कातिक घवल त्रयोदसि जान ॥

इसमें भी पत्नी का संसार विलास को व्यर्थ मानने पर भी साथ जाना ही ठीक ठहराया गया है। तो क्या विद्यापति किसी भी दशा में दम्पति की उपेक्षा उचित नहीं समझते थे और शिव-शक्ति, राधा-माधव और स्त्री-पुरुष को साथ ही साथ देखना चाहते थे? यदि यह ठीक है तो कोई कह नहीं सकता कि वस्तुतः विद्यापति शैव अथवा शाक्त थे, वैष्णव कदापि नहीं। कारण यह कि शैव शिव को महत्त्व देते हैं तो शाक्त शक्ति को; किन्तु दोनों को समरस किया गया है राधामाधव में ही। राधा-माधव में राधा किस प्रकार राधा भी रहती है और माधव भी बन जाती है, यह भी आपको विद्यापति में मिल जायगा और कुछ इस ओर संकेत भी कर जायगा कि वास्तव में विद्यापति इनको क्या समझते हैं, और क्यों माधव को ही परम तत्त्व के रूप में देखते तथा राधा को उनकी शक्ति समझते हैं। देखिये तो राधा की विरह-दशा कैसी है। लिखते हैं—

अनुखन माधव माधव सुमरत,
सुन्दरि मेलि मधाई ।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल,
अपने गुन लुबुधाई ॥

माधव, अपरूब तोहर सिनेह ।
अपने विरह अपन तनु जरजर ,
जिबहत मेलि सन्देह ।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि ,
छलछल लोचन पानि ।

अनुखन राधा राधा रटहत ,
आधा आधा बानि ॥
राधा सयँ जब पुनतहि माधव,
माधव सयँ जब राधा ।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत ,
बाढ़त विरहक बाधा ॥

दुहुदिसि दारू-दहन जैसे दगधई,
आकुल कीट परान ।

ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि ,
कवि विद्यापति भान ॥ २१७ ॥

स्मरण रहे विद्यापति ने राधा को 'कलावति' भी कहा है । उधर एक बात और भी विरक्षण देखने में आती है, जो यह है कि विद्यापति ने एक पद में स्पष्ट कहा है कि सिवसिंह शिव के अवतार हैं । उनका कहना है—

भनह विद्यापति कवि कण्ठहार ।

रस बुझ सिवसिंह सिव अवतार ॥ १७९ ॥

इस कथन में जो 'सिव अवतार' के साथ 'रसबुझ' आया है वह बड़े ही काम का है । विद्यापति ने बार बार इस रसज्ञता का उल्लेख किया है । कहीं कहते हैं—

राजा सिवसिंह रूप नारायण ।

लखिमापति रस जान ॥ १४३ ॥

तो कही लिखते हैं —

भन कवि विद्यापति काम-रमनि रति कौतुक बुझ रसमन्त ।

सिव सिवसिंह राउ पुरुष सुकृत पाउ लखिमा देह रानि कन्त ॥ २२ ॥

इससे भी विलक्षण बात यह है कि विद्यापति ने राजा के साथ ही साथ रानी का उल्लेख भी अवश्य किया है। दम्पति पर उनकी कुछ ऐसी विशेष ममता है कि उसको छोड़ कर 'रस' ला ही नहीं सकते। लिखते हैं—

विद्यापति कवि गाओल रे ।

रस बुझ रसमन्त ॥

देवसिंह नृप नागर रे ।

हासिनि देह कन्त ॥ २९ ॥

तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित न होगा कि विद्यापति दम्पति को छोड़ नहीं सकते थे और दोनों के मूल में ही रस का मूल समझते थे। विद्यापति का इस क्षेत्र में अभिमत क्या था, इसका संकेत कदाचित् इस पद में हाथ लगे। कहते हैं :—

ई रस रसिक विनोदक बिंदक ।

कवि विद्यापति गावे ॥

काम प्रेम दुहु एक मत भए रहु ।

कखने की न करावे ॥ १२१ ॥

इस स्थिति को और भी स्पष्ट समझने के लिए उनके इस कथन पर—

मधुर नटन गति भंग, मधुर नटिनी नट संग ।

मधुर मधुर रस गान, मधुर विद्यापति भान ॥ १८३ ॥

निश्चय ही यहाँ जिस मधुर रस का उल्लेख किया गया है वह शृंगार का विरोधी नहीं, उसी का दिव्य रूप है। विद्यापति पर 'रासरस वर्णन' का प्रभाव क्या पड़ता है, इसे भी देख लें। स्वयं लिखते हैं :—

समय बसंत रास रस वर्णन

विद्यापति मति छोभित होति ॥ १८४ ॥

कहने का तात्पर्य यह कि विद्यापति की रसमय ब्राणी को समझने के लिए काम और प्रेम के सम्बन्ध को समझना, उनके स्वरूप पर विचार करना और उनके समन्वय को जानना चाहिये। इसके बिना विद्यापति को समझना सम्भव नहीं। विद्यापति की दृष्टि में राग क्या है और रस किस प्रकार अनुभवसिद्ध है इसे भी जान लें। उनका कथन है—

सखि, कि पुछब अनुभव मोय ।

से हो पिरित अनुराग बखानिए,

तिल तिल नूतन होय ॥

जनम अबधि हम रूप निहारब,

नयन न तिरपित मेल ॥

से हो मधु बोल खवनहि सूनल,

श्रुति पथ परस न मेल ॥

कत मधु जामिनि रभस गमाओल,

न बझल कहसन केल ॥

लाख लाख जुग हिय हिय राखल,

तइयो हिय जुझल न गेल ॥

कत विदगध जन रस अनुमोदह,

अनुभव काहु न पेख ॥

विद्यापति कह प्रान जुबाएत,

लाखे न मिलल एक ॥ २२८ ॥

इसमें जहाँ 'लाख लाख जुग हिय हिय राखल, तइओ हिय जुझल न गेल' में नित्यलीला का निर्देश किया गया है वहीं 'कत विदगध जन रस अनुमोदह, अनुभव काहु न पेख' में अनुभव का विधान भी। सचमुच रस अनुमोदन की वस्तु नहीं, अनुभव की विभूति है। यही कारण है कि विद्यापति

ने अपने पदों में सर्वत्र अनुभव का ही अनुमोदन किया है। हाँ, पतंग को आग में पड़ते हुए तो आपने भी देखा होगा, किंतु उसके रहस्य को विद्यापति के मुँह से सुनिये। उनकी नायिका कहती है—

सजनी अपद न मोहि परबोध ।
 तोबि जोबिअ जहाँ गाँठ पड़ए तहाँ,
 तेज तम परम विरोध ॥
 सलिल सनेह सहज थिक सीतल,
 इ जानए सब कोई ॥
 से जदि तपत कए जवने जुझाइअ,
 तहओ बिरत रस दोई ॥
 गेल सहज हे कि रिति उपजाइअ,
 कुल-ससि नीली रंग ॥
 अनुभवि पुनि अनुभवए अचेतन,
 पड़ए हुतास पतंग ॥ १५० ॥

‘अनुभवि पुनि अनुभवइ अचेतन, पड़ए हुलास पतंग’ में पतंग के बार बार आग में पड़ने का कारण क्या है? अचेतन हो कर भी वह बार बार आग में क्यों पड़ता और क्यों अपने आप उसी में होम देता है। वह नहीं चाहता कि उसको कोई इस चेष्टा से विरत करे। वह या तो इसकी सच्ची अनुभूति को प्राप्त करना चाहता है या उसकी अनुभूति ही उसको विवश करती है कि वह अपने आपको उस तेज में होम दे। जब उसकी यह दशा है तो किसी चेतन प्राणी की दशा क्या होगी? जो होना था सो तो हो चुका। यह अनुभव सिद्ध बात है कि जिसमें जो कलंक लगा वह लग चुका, उसकी स्थिति फिर वही नहीं हो सकती जो लगने के पहले थी। प्रेम के क्षेत्र में काम-वासना से ही सही, उतर पड़ने पर प्रबोध की बात व्यर्थ है। कोई कितना ही किसी को क्यों न ज्ञान की गुटिका दे किन्तु किसी को स्थिति पहले की नहीं हो सकती। पानी जब गरम हो जाता है तब फिर वह किसी प्रकार फिर अपनी स्थिति में नहीं आता। वह तो तभी अपनी

सहज शीतलता को प्राप्त कर सकता है जब वह धीरे धीरे आग में तप कर सूक्ष्म रूप से परम तत्त्व में मिल जाय । यही दशा अपनी भी तो है । प्रेमी प्रेम पात्र से नाता तोड़ सकता है किन्तु अपनी हृदय की कुहक को नहीं मिटा सकता । बस चाहे जैसे भी हृदय में वेदना उत्पन्न हो, उसकी सच्ची अनुभूति प्राप्त करनी ही चाहिये । प्रेम जीवन नहीं, जीव की उपेक्षा चाहता है । विद्यापति का कहना है—

मधु सम वचन कुलिस सम मानस,
प्रथमहि जान न भेला ।
अपन चतुरपन पिसुन हाथ देख,
गरुअ गरव दुर गेला ॥
सखि हे, मन्द प्रेम परिनामा ।
बड़ कए जीवन कएल अपराधिन,
नहि उपचर एक ठामा ॥
झाँपल कूप देखहि नहि पारल,
आरति चललहु धाई ।
तखन लघु-गुरु किछु नहि गूनल,
अब पछताबक जाई ॥
एक दिन अछलहु आन भान हम
अब बझिल अबगाहि ।
अपन मुँह अपने हम चाँछल
दोख देब गए काहि ॥
भनइ विद्यापति सुनु बर जौबति,
चित्त गनब नहि आने ॥

प्रेमक कारन जीउ उपेखिए,

जग जन के नहि जाने ॥ १४४ ॥

चाहे जैसे हो, अपनी भूल से हो, दूसरे की वचना से हो जो प्रेम हो गया वह तभी सफल हो सकता है जब हम अपने आपको भुला दें । यह त्रिस्मृति और

ने अपने पदों में सर्वत्र अनुभव का ही अनुमोदन किया है। हाँ, पतंग को आग में पड़ते हुए तो आपने भी देखा होगा, किंतु उसके रहस्य को विद्यापति के मुँह से सुनिये। उनकी नायिका कहती है—

सजनी अपद न मोहि परबोध ।
 तोबि जोबिअ जहाँ गाँठ पड़ए तहाँ,
 तेज तम परम विरोध ॥
 सलिल सनेह सहज थिक सीतल,
 इ जानए सब कोई ॥
 से जदि तपत कए जवने जुबाइअ,
 तहओ बिरत रस होई ॥
 गेल सहज हे कि रिति उपजाइअ,
 कुल-ससि नीली रंग ॥
 अनुभवि पुनि अनुभवए अचेतन,
 पड़ए हुतास पतंग ॥ १५० ॥

‘अनुभवि पुनि अनुभवइ अचेतन, पड़ए हुलास पतंग’ में पतंग के बार बार आग में पड़ने का कारण क्या है? अचेतन हो कर भी वह बार बार आग में क्यों पड़ता और क्यों अपने आप उसी में होम देता है। वह नहीं चाहता कि उसको कोई इस चेष्टा से विरत करे। वह या तो इसकी सच्ची अनुभूति का प्राप्त करना चाहता है या उसकी अनुभूति ही उसको विवश करती है कि वह अपने आपको उस तेज में होम दे। जब उसको यह दशा है तो किसी चेतन प्राणी की दशा क्या होगी? जो होना था सो तो हो चुका। यह अनुभव सिद्ध बात है कि जिसमें जो कलंक लगा वह लग चुका, उसकी स्थिति फिर वही नहीं हो सकती जो लगने के पहले थी। प्रेम के क्षेत्र में काम-वासना से ही सही, उतर पड़ने पर प्रबोध की बात व्यर्थ है। कोई कितना ही किसी को क्यों न ज्ञान की गुटिका दे किन्तु किसी को स्थिति पहले की नहीं हो सकती। पानी जब गरम हो जाता है तब फिर वह किसी प्रकार फिर अपनी स्थिति में नहीं आता। वह तो तभी अपनी

सहज शीतलता को प्राप्त कर सकता है जब वह धीरे धीरे आग में तप कर सूक्ष्म रूप से परम तत्त्व में मिल जाय । यही दशा अपनी भी तो है । प्रेमी प्रेम पात्र से नाता तोड़ सकता है किन्तु अपनी हृदय की कुहक को नहीं मिटा सकता । बस चाहे जैसे भी हृदय में वेदना उत्पन्न हो, उसकी सच्ची अनुभूति प्राप्त करनी ही चाहिये । प्रेम जीवन नहीं, जीव की उपेक्षा चाहता है । विद्यापति का कहना है—

मधु सम वचन कुलित सम मानस,
प्रथमहि जान न भेला ।
अपन चतुरपन पिसुन हाथ देख,
गरुअ गरव दुर गेला ॥
सखि हे, मन्द प्रेम परिनामा ।
बड़ कए जीवन कएल अपराधिन,
नहि उपचर एक ठामा ॥
झाँपल कूप देखहि नहि पारल,
आरति चललहु धाई ।
तखन लघु-गुरु किछु नहि गूनल,
अब पछताबक जाई ॥
एक दिन अछलहु आन भान हम
अब वञ्चित अवगाहि ।
अपन मूँह अपने हम चाँछल
दोख देब गए काहि ॥
भनइ विद्यापति सुनु बर जीवति,
चित्त गनब नहि आने ॥

प्रेमक कारन जीउ उपेखिए,

जग जन के नहि जाने ॥ १४४ ॥

चाहे जैसे हो, अपनी भूल से हो, दूसरे की वचना से हो जो प्रेम हो गया वह तभी सफल हो सकता है जब हम अपने आपको भुला दें । यह विस्मृति और

यह त्याग ही परम की प्राप्ति का कारण है और जब तक इसकी सच्ची अनुभूति नहीं होती तब तक किसी के कहने से न तो प्रेम किया जा सकता है और न किसी के समझाने से ज्ञानी बना जा सकता है। कदाचित् यही कारण है कि शानियों और भक्तों, क्या सभी साधकों ने अनुभूति को ही मुख्य ठहराया है और अनुभव को ही महत्व दिया है। विद्यापति ने भी इसी अनुभूति को रस का मर्म बताया है और इसी के लिए उन्होंने राधा-माधव के प्रेम का ऐसा विग्रह वर्णन भी किया है। यह प्रेम होता कैसे है, इसको भी दिखाने का प्रयत्न विद्यापति ने किया है। कहते और सभी अनुभवी कहते हैं कि यदि हमें मुक्त होना है तो फिर बालक बनना चाहिये। किन्तु कुछ जान कर अनजान बनना कितना कठिन है! जीवन में अभाव का अनुभव कब होता है? बालक को भूल लगती है। वह जानता है कि उसे क्या चाहिये। किन्तु काम-वासना इस रूप में हमारे सामने नहीं आती और आती है तो इस रूप में कि हम अपने आप को उसके अधीन पाते हैं। विद्यापति कहते हैं—

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल,
सवन क पथ दुहु छोचन लेल ॥ ४ ॥

इस पद में जिस मेल की बात कही गई है क्या वस्तुतः वह मेल है? विद्यापति दृढ़ता के साथ कहते हैं—नहीं।

विद्यापति कह दुहु अगेआनि,
दुहु एक जोग हइ के कह सयानि ॥ ४ ॥

सचमुच शैशव और यौवन में एकता की योग्यता नहीं। यही कारण है कि विद्यापति तुरत स्पष्ट करते हैं—

सैसव जौवन दरसन भेल।

हाँ, इनका मेल नहीं, इनका तो द्वन्द्व है। तभी तो उसी की पूर्ति में चट बोल पड़ते हैं—

दुहु दल बले दन्द परि गेल ॥ ५ ॥

इस द्वन्द्व का परिणाम होता क्या है? यही न कि कहीं से मनसिज आ जाता

है और चुपके से अपना राज्य स्थापित कर लेता है। और अपना शासन भी ऐसा चल लेता है कि—

सैसव जौवन दरसन भेल ।

दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल ॥ ६ ॥

विद्यापति यहाँ 'कवि सेखर' के रूप में हमारे सामने आते हैं और अपनी असमर्थता को प्रगट कर भिन्न भिन्न राज्य में भिन्न भिन्न व्यवहार बता जाते हैं। इस भिन्नता का क्षेत्र बहुत व्यापक है। विद्यापति में संकीर्णता नहीं। उनका पक्ष है :—

विष्णुं के ऽपि निवेदयन्ति गिरजानाथं च केचित्पथा ।

ब्रह्माखं प्रभुमालपन्ति भुवने नाग्नैव मेदो ह्ययम् ॥

निर्णोतं मुनिभिः सतर्कमतिभिश्चेद्विरवमेकेश्वर-

न्तच्चिन्ता परमानसे त्वयि पुनर्भिन्ना कुतो भावना ॥

● —पुरुषपरीक्षा, धर्मकथा ॥ १० ॥

किन्तु यह तो तत्वदृष्टि की बात हुई, व्यवहार में तो उनका पक्ष यह है—

बेरि बेरि अरे सिव मो तोय बोलें,

फिरसि करिअ मन माय ॥ २३४ ॥

इसमें तो शिव जी को भी वह कृष्ण के रूप में देखना चाहते हैं। फिर उनके रसिक हृदय में वैराग्य के लिए स्थान कहाँ ? नहीं, विद्यापति निवृत्ति मार्ग के पथिक नहीं, प्रवृत्ति मार्ग के भक्त हैं। उनको अपने जीवन के रंग दृंग से विराग होता है किन्तु कभी राग से नहीं। यदि यह सच है तो मानना ही होगा कि विद्यापति की अनुभूति रस की ही अनुभूति होगी और वह शृंगारी के अतिरिक्त और कुछ होंगे भी नहीं। यह बात दूसरी है कि उनके हृदय में राधा-माधव के साथ शिव-पार्वती को भी स्थान मिले। किन्तु शिव-पार्वती के प्रेम में उनको वह प्रेम नहीं मिल सकता जो प्रेम अपने आप कहीं से हो जाता है और हमारा पियठ तब तक नहीं छोड़ता जब तक हम अपने आपको भुल्ला नहीं देते। पार्वती ने

शिव को अपनी साधना से जीत लिया था और इसके फलस्वरूप शिव भी पार्वती के क्रीत दास हो गये थे । किंतु यह होना होना था, हो जाना नहीं । तात्पर्य यह कि राधा में माधव और माधव में राधा के प्रति जो सहज वेदना है और जो आपसी आप दोनों में स्वतन्त्र रूप से घर कर दोनों को एक बना देती है वह शिव-पार्वती में नहीं । शिव-पार्वती में विचार और विवेक है; भावना और भाव नहीं । यही कारण है कि पति-पत्नी के रूप में जहाँ शिव-पार्वती की प्रतिष्ठा है वहीं प्रिय-प्रिया रूप में कृष्ण-राधा की । इससे इतना तो स्पष्ट हो जाना चाहिए कि—‘भलहर भलहरि भल तुअ कला, खन पितवसन खनहि वधछला ।’ के उपासक विद्यापति ने क्यों कला-रस की अभिव्यक्ति के लिए, अथवा काम-प्रेम की अनुभूति के लिए शिव पार्वती के प्रसंग को न चुन कर राधा-माधव के प्रेम को ही चुना ।

राधा-माधव के प्रेम-प्रसंग में, कभी भी भूलना न होगा कि विद्यापति ने राधा और माधव को समदृष्टि से लिया है । दोनों में दोनों के प्रति वही भाव दिखाया है और दोनों में मेल मिलाया है जयदेव की भाति एक सखी के द्वारा । पहले राधा की रूप-छटा को देखिए—

माधव, की कहब सुन्दरि रूपे ।

कनेक जतन बिहि आनि समारल,

देखल नयन सरूपे ॥

पल्लव-राज चरन जुग सोभित,

गति गजराज क भाने ।

कनक-कदलि पर सिंह समारल,

तापर मेरु समाने ॥

मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल,

नाल बिना रुचि पाई ।

मनि-मय हार धार बहु सुरसरि

तओ नहि कमल सुखाई ॥

अधर बिम्ब सन, दसन दाहिम-बिजु
 रवि ससि उगथिक पासे ।
 राहु दूर बस नियरो न आबधि
 तैं नहि करथि गरासे ॥
 सारैंग नयन बयन पुनि सारैंग
 सारैंग तसु समधाने ।
 सारैंग ऊपर उगल दस सारैंग
 केलि करथि मधुपाने ॥
 भनइ विद्यापति सुन बर जौबति
 एहन जगत तहि आने ।
 राजा सिवसिध रूपनरायन—
 लखिमा देइ पति भाने ॥१२॥

इस पद में कल्पना की जो विभूति देखने को मिली है वह तो काव्य की बात ठहरी । उसी को सामने रख कर अब कृष्ण के सौन्दर्य को भी देखिये—

ए सखि पैखलि एक अपरूप ।
 सुनइत मानबि सपन सरूप ॥
 कमल जुगल पर चौंद क माला ।
 तापर उपजल तरुन तमाला ॥
 तापर बेड़लि बिजुरी—लता ।
 कालिन्दी तट धीरे चलि जाता ॥
 साखा—सिखर सुधाकर—पाँति ।
 ताहि नब पल्लव अरुनक भाँति ॥
 बिमल बिम्बफल जुगल बिकास ।
 तापर कीर थीर करु बास ॥
 तापर चञ्चल खंजन—जोर ।
 तापर सौँपिनि झौँपल मोर ॥

ए सखि रंगिनि कहल निसान ।

हेरहत पुनि मोर हरल गिआन ॥

कवि विद्यापति एहि रस भान ।

सुपुरुख मरत तुहु भळ जान ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार प्रेम के प्रत्येक क्षेत्र में दोनों की स्थिति दिखाई गई है और अंत में दिखाया यह गया है कि किस प्रकार राधा माधवमय हो कर फिर राधा बन जाती है और उभय दशाओं में विरह-वेदना का अनुभव करती है । इसका अर्थ कदाचित् यह है कि राधा की अनुभूति और राधा की तन्मयता माधव से अधिक गहरी और तीव्र है । इसका कारण उसका नारीरूप ही है ।

नर-नारी के रूप से विद्यापति कहीं तक परिचित थे और उनकी भिन्न भिन्न प्रकृतियों के प्रदर्शन में उनको कहीं तक सफलता मिली है, इसको कोई भी व्यक्ति उनकी पदावली में देख सकता है; किन्तु उसको उसमें जो बात सहसा न दिखाई देगी वह यह है कि विद्यापति क्या इस रूप में उसका ऐसा खुला वर्णन करते हैं और क्यों अन्त में किसी न किसी दम्पति को विशेषतः 'राजा शिवसिंह रूपनारायण' और 'लखिमा देह' को ला खड़ा कर देते हैं और बार बार इसकी सुधि दिलाते रहते हैं कि इस रस को कहता विद्यापति है और जानता शिवसिंह है । स्यात् इसका रहस्य यह है कि वस्तुतः राधा-माधव जो हैं वही लखिमा देवी और राजा शिवसिंह भी । उन्हीं की नित्य लीला अथवा समरसता की धारा तो यहाँ भी बह रही है । अस्तु, जहाँ कहीं आपको काम-केलि अथवा कला-रस दिखाई दे वहाँ उसको उसी मधुर-रस का प्रसाद समझें और उसी रूप में उसको ग्रहण भी करें ।

कहा जाता है कि विद्यापति कामुक थे, विलासी थे, दरबारी थे, फिर श्रृंगार की ऐसी धारा बहाते नहीं तो और करते ही क्या ? माना कि फिर यह सब कुछ ठीक है, किन्तु इसे भी ठीक कैसे मान लें कि एक विलासी कवि ऐसी पूत-रचना कर सकता है । विचार के लिए उनका वह पद लीजिए जिसका उनके जीवन से कुछ सम्बन्ध भी बताया जाता है और जिसे उनकी काव्य-कला की कसौटी भी ठहराया जाता है । कहते हैं कि जब अपनी उद्विगता अथवा आत्माभिमान के

कारण राजा शिवसिंह बन्दी की दशा में दिल्ली पहुँच गए थे तब विद्यापति को भी चन्द बरदाई की भौंति अपने स्वामी के उडार की सूसी। चन्द बरदाई को जो सफलता मिली उसको सभी लोग जानते हैं। शत्रु मारा गया और दोनों को परलोक मिला। किन्तु विद्यापति की सफलता ऐसी नहीं रही। शत्रु भी जीता और प्रसन्न रहा और इन दोनों को भी अपना अपना राज्य मिल गया। किसके प्रताप से? काव्य के ही द्वारा ही न? विद्यापति से कहा गया कि सचमुच कवि हो तो एक ऐसी रमणी का वर्णन करो जो नहाती हो पर जिसको तुम देख नहीं रहे हो। विद्यापति ने चट कहा—

कामिनि करए सनाने ।
 हेरितहि हृदय इनए पँचबाने ॥
 चिकुर गरए जलधारा ।
 जनि मुख-ससि डर रोअये अँधारा ॥
 कुच-जुग चारु चकेवा ।
 निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा ॥
 ते संका भुज-पासे ।
 बांधि वएल उड़ि जाएत अकासे ॥
 तितल वसन तनु लागू ।
 मुनिहुक मानस मनमथ जागू ॥
 भनई विद्यापति गावे ।
 गुनमति धनि पुनमत जन पावे ॥ २३ ॥

वर्णन कितना कवित्वमय है इसके बताने की आवश्यकता नहीं। 'चारु चकेवा' के उड़ने की कल्पना कितनी सटीक और अनुपम है और चन्द्रमा के डर से अन्धकार का रोना भी कितना सजीव है इसे कोई भी सहृदय समझ सकता है। हमें बताना तो यहाँ यह है कि 'हेरितहि हृदय इनए पँचबाने' और 'मुनिहुक मानस मनमथ जागू' में भी कुछ बात कही गई है। इसके द्वारा जो भाव उद्गीत हुआ है उसके लिए क्या 'गुनमति धनि पुनमत जन पावे' का विधान पर्याप्त नहीं

है। क्या यह लालसा और यह विधान वासना का परिणाम और विलास का प्रति-फल है? स्मरण रहे, विद्यापति काम, कला और रस के पथिक हैं कुछ विषय-वासना और भोग-बिलास के नट नहीं।

(विद्यापति के सम्बन्ध में विचार करते समय यह भी स्मरण रखना होगा कि विद्यापति ने 'पदावली' में लोक-जीवन को लिया है राज-जीवन को नहीं। यही कारण है कि आज भी मिथिला में घर-घर उनकी वाणी का समादर होता है और स्त्रियाँ उसे समय-समय पर गाती और अपनी निगूढ़ वेदना को जगाती रहती हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि स्त्रियाँ तो उनकी इस आदर इस भाव से देखें और तीर्थ-यात्रा तक में उसका गान करें और आज कल के आलोचक लोग कोठरी में बैठ कर उन पर फबतियाँ कसें। विद्यापति ने राज-जीवन को 'कीर्ति-लता' और 'कीर्ति-पताका' में लिया है। किन्तु 'कीर्ति-लता' और 'कीर्ति पताका' तो मैथिल भाषा में नहीं हैं। उनको तो उन्होंने स्वयं 'अवहट्ठ' में लिखा है। विद्यापति की सारी रचनाएँ भाषा की दृष्टि से तीन भागों विभक्त हैं संस्कृत, अवहट्ठ तथा देशी। देशी का देश से सम्बन्ध है, अवहट्ठ का दरबार से और संस्कृत का संस्कृति, धर्म तथा व्यवहार से। अस्तु, विद्यापति के हृदय को परखने के निमित्त कुछ उनकी अवहट्ठ और उनकी संस्कृत रचनाओं पर भी विचार कर लेना चाहिये।

भाषा के सम्बन्ध में विद्यापति का स्वयं कहना है—

‘सकय वाणी बहुअ न भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।

देसिल बअना सब जन मिट्ठा,

तँअ तैसन जम्पओ अवहट्ठा।’ —कीर्ति-लता।

भाषा की दृष्टि से देखने से अवगत यह होता है कि विद्यापति के समय में संस्कृत की ओर से बहुतों का जी फिर चुका था। प्राकृत के विषय में उनका विचार है कि उसमें रस की धारा नहीं बह सकती। इन दोनों की उपेक्षा ही युग की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यदि इस समय लोगों की रुचि किसी वाणी में है तो वह देशी वाणी में ही। वही सबको मधुर लगती है। किन्तु एक और

मी भाषा है जिसको लोग उतनी तो नहीं किन्तु कुछ वैसी ही मधुर पाते हैं। वह और कुछ नहीं अवहट्ट है। अवहट्ट के बारे में विद्यापति ने अन्यत्र कहीं कुछ भी नहीं कहा है। हाँ इतना अवश्य किया है कि उसमें 'कीर्तिलता' और 'कीर्ति-पताका' जैसी उच्च-कोटि की रचनाएँ कर डाली हैं। इसका कारण क्या है ?

ध्यान देने की बात है कि विद्यापति ने अवहट्ट को प्राकृत की कोटि में न रख कर देश-भाषा की कोटि में रक्खा है और कहा भी है कि वह सबको प्यारी भी है। अवहट्ट कैसे है तो अपभ्रष्ट का रूपान्तर, किन्तु इसके सम्बन्ध में कुछ लोगों का विचार है कि अपभ्रंश के अन्तिम रूप को अवहट्ट कहना चाहिए। अपभ्रंश का प्रचार देश में किस प्रकार हुआ और एक ही अपभ्रंश किस प्रकार राष्ट्र-भाषा के रूप में चारों ओर फैल गई, इसका विचार यहाँ नहीं हो सकता। यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जो नमिसाधु ने 'काव्यालंकारः' की टीका में 'पट्टोऽत्र भूरिभेदो देश-विशेषादपभ्रंशः' की व्याख्या करते हुए 'आभीरी' के प्रसंग में लिख दिया है 'आभीरीभाषा अपभ्रंशस्थाकथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते' वही इस बात का प्रमाण है कि एक ही अपभ्रंश के देश-विशेष के अनुसार बहुत से भेद हो गए थे और उन्हीं भेदों में से एक का प्रचार मगध में भी था। नमिसाधु के समय (नवीं शदी) में जो अपभ्रंश मगध में कहीं कहीं दिखाई देती थी वह धीरे धीरे पर्याप्त मात्रा में फैल चुकी थी और प्रतीत होता है कि विद्यापति ने इसी फैलाव के कारण उसको अपनाया। अपभ्रंश के प्रचार का कारण बहुत कुछ राजपूतों का उत्कर्ष था। सिद्धों की बानियों में जो अपभ्रंश के रूप पाए जाते हैं उनसे यह भी प्रत्यक्ष होता है कि सिद्धों के द्वारा भी कुछ इस भाषा का प्रचार हुआ। इसका सारांश यह निकला कि शासन और धर्म दोनों ओर से अपभ्रंश को महत्त्व मिला। फलतः विद्यापति ने भी अवहट्ट में रचना की। कहते तो यहाँ तक हैं कि 'कीर्ति-लता' ही विद्यापति की प्रथम रचना है। इसमें सन्देह नहीं कि स्फुट पदों को छोड़ कर यदि हम विद्यापति के किसी भी ग्रन्थ को लेते हैं तो उसमें कोई ऐसी बात नहीं दिखाई देती जिससे हम उसे 'कीर्ति-लता' के पहले की रचना मान लें। यही नहीं 'कीर्ति-लता' के उपरान्त जो रचना हमारे सामने आती है वह भी अवहट्ट की रचना

‘कीर्त्ति-पताका’ ही है। तो क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि विद्यापति ने अपनी प्रबन्ध-रचना का आरम्भ अवहट्ठ में ही किया था। इसका एक और भी कारण है। विद्यापति ‘कीर्त्ति-लता’ के आरम्भ में ही लिखते हैं—

तिहुअव्व खेत्तहि काजि तसु कित्ति-वल्लि पसिरंहि
अक्खर खम्भा रम्भञ्जु मञ्जो वन्दि न देहि।

और उसके अन्त में भी लिखा है—

एवं सगरसाहसप्रमथनप्रालब्धलब्धोदयाम्।
पुष्पाति श्रियमाशशाकतरिणी श्रीकीर्त्तिसिंहो नृपः।
माधुर्यप्रसवस्थली गुरुशोविस्तारशिक्षास्थली।
यावद् विश्वमिदं च खेलनकवेर्विद्यापतेभरती।

इन दोनों अवतरणों से सिद्ध तो यह होता है कि विद्यापति ने श्रीकीर्त्तिसिंह की ‘कीर्त्ति-लता’ को दूर दूर फैलाने तथा अमर बनाने के लिए ही अवहट्ठ में रचा था। ‘कीर्त्ति-पताका’ को भी इसी दृष्टि से तत्कालीन राष्ट्र-भाषा अथवा अवहट्ठ में फहराया था। विद्यापति ने फिर कोई प्रबन्ध-रचना नहीं की। इसके उपरान्त उन्होंने जो ग्रन्थ बनाए सभी संस्कृत में हैं।

संस्कृत के सम्बन्ध में हम पहले ही देख चुके हैं कि विद्यापति के समय में वह बहुतों को नहीं भाती। भाने का जहाँ तक प्रश्न है उन्होंने संस्कृत में भाती हुई कोई रचना की भी नहीं। संस्कृत में की हुई उनकी रचनाएँ हैं—१ भूपरि-
क्रमा, २ पुरुष-परीक्षा, ३ लिखनावली, ४ शैव सर्वस्व-सार, ५ प्रमाणभूत-पुराण-
संग्रह, ६ गङ्गावाक्यावली, ७ विभागसार, ८ दान वाक्यावली, ९ दुर्गाभक्तिर-
गिणी, १० गयापत्तलक तथा ११ वर्षकृत्य। इनमें से कुछ तो कर्मकांड की दृष्टि से लिखी गई हैं कुछ व्यवहार की दृष्टि से और कुछ उपदेश के विचार से। शुद्ध काव्य की दृष्टि से कोई नहीं। इनमें ‘लिखनावली’ का महत्त्व इसलिये विशेष है कि इसके द्वारा पता चलता है कि उस समय लिखा-पढ़ी और लेन-देन का ढर्रा क्या था। ‘भू-परिक्रमा’ से देश का और ‘पुरुष-परीक्षा’ से काल का भी बहुत कुछ बोध हो जाता है। संस्कृत के इस व्यवहार का कारण यही है कि संस्कृत उस

समय भीषम-भाषा और राज-भाषा समझी जाती थी। उसका प्रयोग अभी राज-काज में होता था। और कर्म-कांडों में तो आज भी होता ही है। फिर विद्यापति उसकी अवहेलना क्यों करते? अब रही 'देसिल बअना' की बात। सो तो सभी जानते हैं कि इस समय देश में चारों ओर देश-भाषा की धूम मची थी और उसी में योग जगाया जाता तथा जी रमाया जाता था। वीर और शृंगार, भक्ति और कर्म, दोनों अपने विस्तार का साधन लोक-वाणी को ही बना रहे थे। विद्यापति ने भी ऐसा ही किया। उन्होंने राज-कीर्ति के लिए अवहट्ट को तो चुना किन्तु हृदय की मुक्त धारा देशी वाणी में ही बही। विद्यापति के 'राजा शिवसिंह रूप नरायन लखिमा देह प्रतिभाने' को कौन नहीं जानता? किन्तु कितने लोग ऐसे हैं जो 'कीर्ति लता' और 'कीर्ति-पताका' के नृपति को जानते हैं।

विद्यापति की अवहट्ट-रचना की जो अवहेलना हुई है उसका कारण यह नहीं है कि उसमें कवित्व नहीं है। प्रत्युत यह है कि हममें अतीत का अनुराग और उत्साह का उत्कर्ष नहीं है। विद्यापति ने कहा है—

गेहे गेहे कलौ काव्य श्रोता तस्य पुरे पुरे।

देशे देशे रसज्ञाता दाता जगति दुलभः।

आप दाता को त्राता समझ लें और फिर देखें कि कोई अच्छे आपके सामने रह जाती है या नहीं। स्मरण रहे, विद्यापति का यह भी कहना है—

करोतु कवितुः काव्यं भव्य विद्यापतिः कविः।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि हम आज कवि विद्यापति के भव्य-काव्य को बहुत कुछ भूल चुके हैं? जो हो, विद्यापति की धारणा तो यह है—

बालचन्द विज्जावह भासा, दुहु नहिं लग्गइ दुञ्जन हासा।

वो परमेसर हर-सिर सोहइ, इहि निच्चइ नायर मन मोहइ।

निश्चय ही विद्यापति की रचना नागरो का मन मोह लेती है।

विद्यापति स्वयं समझते थे कि उनमें जितना माधुर्य है उतना ओज नहीं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी भारती को 'माधुर्यप्रसवस्थली' कहा है तथापि

‘कीर्ति-लता’ को पढ़ कर कोई यह नहीं कह सकता कि ‘कीर्ति-लता’ में ओज है ही नहीं। भला जो व्यक्ति इस बात की घोषणा करता है कि—

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहिं पुरिसवो जम्ममतेन
जलदानेन हु जलओ न हु जलओ पुज्जिओ धूमो ।
सो पुरिसवो जमु मातो सो पुरिसवो जस्स अज्ज नेसत्ति,
इयरो पुरिसाआरो पुच्छविट्ठना पसू होइ ॥

वही पुरुषार्थ, ओज और उत्साह से रहित रचना कब कर सकता है। अस्तु, उत्साह का यह रूप देखिये—

अञ्जु वैरि उद्ध रजौ सत्तु जइ संगर आवइ ।
जइ तमु पष्व सपष्व इन्द अप्पन बल लावइ ॥
जइ ता वष्वइ शम्भु अवर हरि वम्भ सहित भइ ।
फणिवइ लागु गोहारि चाप जमराए कोप कह ॥
अंसलान जे मारजो तजो हु अजो तासु रूहिर लइ देजो पा ।
अंवमान समअ निज जीव धके जै नहि पिट्ठ देवाए जा ॥

—पृ० १०० कीर्तिलता

‘कीर्ति-लता’ में काव्य का अभाव नहीं। इस छोटे से प्रबन्ध में बहुत सी बातें आ गई हैं जो काव्य के क्षेत्र में ही नहीं इतिहास के क्षेत्र में भी काम की हैं। उनकी ओर सकेत कर बताना हम यह चाहते हैं कि विद्यापति का वर्णन सजीव, सटीक, सामयिक और उपयोगी है। उस समय की रहन-सहन बात-व्यवहार का, हाट-बाट और लेन-देन का जैसा चित्र इसमें मिलता है अन्यत्र दुर्लभ है। मत्त मंगोल का जो रूप हमारे सामने रखा गया है और उन्मत्त धोंगल का जो अतिचार दिखाया गया है वह तो देखने ही योग्य है। मोगल के बारे में लिखते हैं—

‘गो-वम्भन-बध दोस न मानथि
पर-पूर-नारि बन्दि कै आनथि,
इस हरषे रंड हासह जहिं
तरुये तुरुक वाचा सए सह सहि ।’

तो घोंगड़ के बारे में कहते हैं—

अरु कत घोंगड़ देसियथ जाइते

गोरु मारि मिसि मिलि केए खाइते ॥

—पृ० ९० ।

अरु घोंगड़ कटकहि लटक बड़ जे दिसि घाड़हि जाथि,

तहँ दिसि केरी राए घर तरुणी हट्ट बिकायि ।

इसी प्रकार तुरकों के आचरण के सम्बन्ध में लिखते हैं—

अबे बे भइन्ता सरावा पिबन्ता

कलीमा कहन्ता कलामे जियन्ता

कसीदा कटन्ता मसीदा भइन्ता

कितेबा पढ़न्ता तुरकका अनन्ता ॥

—पृ० ४० ।

और उनके भोजन की दशा तो यह है—

‘जो आनियँ आन कपूर सम, तबहुँ पिआजु पिआजु पै ।

—पृ० ४२ ।

यह तो हुई बात-व्यवहार और रंग-ढंग की बात । इसी प्रकार की अनेक बातें आप को ‘कीर्त्ति-लता’ में देखने को मिलेंगी । प्रसंगवश एक मद-मत्त हाथी का भी रूप देख लीजिए—

अणवरत हाथि मय-मत्त जाथि

भागन्ते गाछ चापन्ते काछ

तोरन्ते बोल मारन्ते घोस

संगाम येव भूमिह मेव

अन्धार कूट दिगविजय छट

ससरीर गड्ढ देखन्ते भव्व

चालन्ते काण पव्वअ समान

—पृ० ८२ ।

अधिक अवतरण देने को आवश्यकता नहीं। टॉकने की बात यहाँ यह है कि 'कीर्त्ति-लता' की अवद्वन्द्व संस्कृत के आधार पर ही खड़ी होती और उसी की शक्ति से समर्थ बनती है। साथ ही 'देसिल बअना' को भी साथ लिये चलती है। एक बात और, जहाँ 'पृथ्वीराज रासो' का प्रसंग कवि और उसकी स्त्री को लेकर चलता है वहीं 'कीर्त्ति-लता' का प्रसंग भृंग और भृंगी को लेकर। निश्चय ही 'कीर्त्ति-लता' का अध्ययन रासो अथवा वीर गाथाओं के साथ करना चाहिये और 'कीर्त्ति-लता' तथा 'कीर्त्ति-पताका' को उन्हीं के वर्ग में रखना भी चाहिये।

विद्यापति की एक और भी घोषणा है। उनका कहना है—

महुअर बुझर कुसुम-रस कव्व-कलाव छहल

सज्जन पर-उअआर मन दुज्जन नाम महल।

—पृ० ४।

सज्जन और दुर्जन में जो भेद किया गया है उससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। यह 'तो विचारणीय है 'कव्व कलाव छहल' कवि कहता है किन्तु कवि-कला को जानता कोई छबीला छैला ही है। विद्यापति ने अन्यत्र भी कहा है—

‘भन विद्यापति सुकवी भान, कवि के कवि कहँ कवि पहचान।

—पृ० २४९।

पहले तो विद्यापति ने सहृदय विदग्ध को हाँ लिया था। यहाँ उन्होंने काव्य-रस जानने के लिए कवि होना भी उचित ठहरा दिया है। समीक्षा के क्षेत्र में यही विद्यापति का पक्ष है। काव्य-कला और काव्य-रस को सचमुच वही समझ सकता है जिसके हृदय में कवि की सच्ची अनुभूति हो। पदावली में जो बारबार यह कहा गया है कि—

‘सिवसिंघ राजा यहू रस जाने, मधुमति देह सुकन्ता’

एवं— ‘बूझ सिवसिंघ ई रस-रसमय

सो रम देवि समाज।’

तथा— ‘अभिनव नागर बुझए रसवन्त

मति महेसर रेणुका-देवि कन्त।’

उसका रहस्य भी यही है । इसी को लक्ष्य में रख कर महात्मा तुलसीदास ने भी कहा था—

उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं ।

विद्यापति की कविता मधुर-रस की कविता है । वह माधुर्य की वाणी है और है यौवन की रंग-स्थली । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह देश-काल से परे और अलौकिक है । उसमें भी इतिहास है और है उसमें भी व्यवहार । यदि उस समय के क्रम का रूप देखना हो तो—

‘बह कौसल तुअ राधे, किनल कन्हाइ लोचन आवे’ ॥

—१०४ ।

को देखें । और यदि व्यवहार में जा कर वादी और प्रतिवादी का रंग देखना हो तो—

दखिन पवन बह दस दिस रोल,
से जन वादी-भाषा बोल ॥

—१८० ।

को देखें । और दरबारी विद्यापति के कवित्व का रस लें ।

विद्यापति जिस सरलता से किसी बात को बता जाते हैं और सहज में ही जितनी दूर तक दिखा जाते हैं उतना उस रूप में अन्यत्र दुर्लभ है । उनकी नायिका कहती है—

“तेल-बिन्दु जैसे पानि पसारिय ऐसन मोर अनुराग ।

सिकता जल जैसे छनहि सूखए तैसन मोर सुहाग ॥ २०२ ॥

पानी पर तेल का फैलना और बाद में पानी का चट सूख जाना किसने नहीं देखा है किन्तु अनुराग को स्नेह और सुहाग को पानी के रूप में इस प्रकार पहिचाना और साथ ही दरसाया भी किसने है ?

श्याम से चिढ़ कर श्यामरंग से घृणा तो बहुतों को हुई है, किन्तु विद्यापति की नायिका यहाँ भी कुछ अपना अलग ही रंग जमाती है । श्यामता को दूर करने के लिए उसने क्या क्या नहीं किया यहाँ तक कि—

एक तील छल चारु चिबुक पर
 निन्द्य मधुप - सुत सामा ।
 त्रिन अग्र करि मलयज रंजन
 ताहि छपाउल रामा ॥

किन्तु इतने से ही श्यामता से मुक्ति कैसे हो सकती है ? उधर काले भ्रमर भी तो पीछे पड़े हैं । निदान विद्यापति कहते हैं—

मधुकर उर धनि चम्पक-तरु-तल,
 लोचन-जल भरि पूर ।
 सामर चिकुर हेरि मुकुर पटकल,
 टटि भए गेल सत चूर ।
 इस प्रचण्ड कोप का अन्त भी देख लीजिए । कहते हैं—
 मेरु सम मान सुमेरु कोप सम
 देखि भेल रेनु समान ।
 विद्यापति कह राय मनावहि
 आपु सिधारय काह ॥ १४५ ॥

वसन्त का वर्णन किस कवि ने नहीं किया । किन्तु विद्यापति ने उसके जन्म का जो सांगरूप दिया है वह अन्यत्र कहीं है ? कवि देव का—

‘मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
 प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै ।’

तो बहुत प्रसिद्ध है, किन्तु वह उतने व्यापक रूप में हमारे सामने नहीं आता जितना कि विद्यापति का वसन्त-जन्मोत्सव । देखिये, ऋतुराज का बही वेदना के नाय जन्म हो गया है और चारों ओर मंगल मनाया जा रहा है—

नाचए जुवतिजना हरखित मन
 जनमल बाळ मचाई हे ।
 मधुर महारस मंगल गावए
 मानिनि मान उचाई हे ॥

बह मळ्यानिळ ओत उचित हे
 नव घन भओ उजियारा ।
 माघवि फूल मेल मुक्ता तुल
 ते देल बन्दनबारा ॥
 पीअरि पौअरि महुअरि गाबए
 काहरकार धतूरा ।
 नागेसर-कलि संख धूनि पूर
 तकर ताल समतूरा ॥
 मधु लए मधुकर बालक दएइलु
 कमल-पंखरी-लाई ।
 पओनार तोरि सूत बोंधल कटि
 केसर कएलि बघनाई ॥
 नव नव पल्लव सेज ओठाओल
 सिर देल कदम्बक माला ।
 बैसलि भमरी हरउद गाबए
 चक्का चन्द निहारा ॥
 कनअ केसुअ मुति-पत्र लिखिए हलु
 रासि नछत कए लोला ।
 कोकिल गनित-गुनित भल जानए
 रितु वसंत नाम थोला ॥

विद्यापति ने वसन्त का वर्णन भौंति भौंति से किया है और वियोग की दशा में अन्य ऋतुओं की भी यत्र तत्र चर्चा की है। किन्तु उस मात्रा में नहीं। शरद् का वर्णन अपने ढंग का अनूठा है। एक एक अंग की दशा का उल्लेख इस ढंग से किया गया है कि प्रायः सभी प्रसिद्ध उपमान प्रतीक के रूप में सामने आ जाते हैं। नायिका ने एक एक करके सभी अंगों को प्रकृति के किसी न किसी पदार्थ को सौंप दिया है। यदि कुछ रह गया है तो

केवल उसका शरीर, सो भी बस स्नेह-वश । बारहमासा के रूप में जो ऋतुओं का उल्लेख हुआ है वह उतना सजीव नहीं जितना जायसी का । प्रकृति को अपने मूल-रूप में अंकित करना विद्यापति को इष्ट नहीं। वह तो उनकी दृष्टि में उद्दीपन-मात्र है सो भी माधुर्य के लिए ही । उनकी नायिका का प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ता है इसको भी देख लें । कहते हैं—

जहाँ-जहाँ पग जुग धरई । तहि-तहि सरोरुह झरई ॥
जहाँ-जहाँ झलकत अग । तहि-तहि बिजुरि तरग ॥
कि हेरल अपरुब गोरि । पड़ठल हिय मधि मोरि ॥
जहाँ-जहाँ नयन विकास । तहि-तहि कमल प्रकाश ॥ ३५ ॥

आदि वर्णनों को देखते हुए जायसी का वह रूप सामने आ जाता है जो साहित्य के क्षेत्र में सोदर्य की अनुभूति के साथ ही प्रतिविम्बवाद का परिचायक भी माना जाता है । जायसी कहते हैं—

नयन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर ।
हंसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर ।

विद्यापति की इस भावना के साथ कहीं कुछ आजकल के रहस्यवाद अथवा छाया-वाद का मेल खाता है अथवा नहीं, इसका भी थोड़ा विचार हो जाना चाहिए । नोक-झोंक शीर्षक से जो कविताएँ संगृहीत हैं उनमें आप इसकी पर्याप्त झलक पायेंगे और थोड़े से हेर-फेर के साथ उसे आधुनिक रूप में भी ढाल लेंगे । विद्यापति का एक गीत है—

नाव डोलाव अहीरे
जिबहत न पाओब तीरे
खर नीरे लो ॥
खेबा न लेअह मोले
हंसि हंसि की दहु बोले
जिब डोले लो ॥

किए बिके ऐलिहु आये
बेदलिहु मोहि बर सापे
मोरे पापे लो ॥

करतिहुँ पर-उपहासे
परलिन्दु तन्हि बिधि-पासे
नहि आसे लो ॥

न वृक्षसि अनुस गोआरी
भजि रहु देव मुरारी
नहि गारी लो ॥

कवि विद्यापति भाने
नृप सिवसिंघ रस जाने
नव कान्हे लो ॥ ६१ ॥

विद्यापति ने इसमें अहीर और 'गोआरी' का प्रयोग कर इसे राधा माधवपरक बना दिया है, अन्यथा इसका भाव वही है जो आजकल की 'पार'-पन्थी अथवा छायावादी कविता में प्रकट दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त विद्यापति में उस दंग की रचना का भी आभास मिल जाता है जिसको आजकल प्रगतिवादी अथवा प्रकृतिपन्थी कविता कहते हैं। कान्ति का रूप देखना हो तो विद्यापति की यह कविता पढ़ें—

हम नहि आज रहब यहि आँगन
जो बुढ़ होएत जमाई, गे माई ।
एक त बहरि मेला बीघ बिधाता
दोसरे धिया कर बाप ।
तेसरे बहरि मेल नारद बाभन
जै बुढ़ आनल जमाई, गे माई ॥
पहिलुक बाजन डामरु तोरब
दोसरे तोरब हँडमाला ।

पंक्तियाँ तो ऐसी हैं जो विद्यापति की परिस्थिति तथा विद्यापति की भावना को खोलती हैं ? 'व्रजनारी' और कोई नहीं प्रौढा राधिका हैं और 'बालक पिया' भी और कोई नहीं बाल-कृष्ण हैं । बाल कृष्ण ने किस प्रकार वन में प्रौढ रूप धर कर राधा के साथ विहार किया! इसे ब्रह्म-वैवर्त पुराण में देखिये, और इसकी कुछ झलक सूर-सागर में भी पा लीजिए तो अच्छा ही ।

विविध रूपों में जो विद्यापति को देखने तथा दिखाने का श्रम किया गया है उसका कारण यह है कि हम बताना यह चाहते हैं कि विद्यापति में कोरा काम ही नहीं अपितु और भी कुछ है । और ऐसा और कुछ है जिसकी अवहेलना कर हम विद्यापति के साथ न्याय नहीं कर सकते । सच तो यह है कि विद्यापति ने अपने विषय में अपने आप ही इतना कुछ कह दिया है कि यदि हम उसी का सहारा ले उनके काव्य-क्षेत्र में उतरें और उसके विविध रसों को लें तो हम रसिक ही नहीं कुछ और भी रम्य और व्यापक रूप में अपने को पा सकते हैं । और सचमुच कह सकते हैं 'रसो वै सः' । स्मरण रहे, विद्यापति ने काम और प्रेम को कभी भी एक नहीं कहा है । उनके प्रेम की परिभाषा यह है—

आशा यत्र न लङ्घ्यते न विनये वैषम्यमारोप्यते ।

सद्भावः प्रथमोत्थितो न हृदये वाच्यास्पदं नीयते ॥

अन्योन्यं सुखदुःखयोः समतया यद्भुज्यते वैभवम् ।

तत्प्रेम प्रिययोर्मुदे तदितरत्कन्दर्पकाराग्रहम् ॥

—पुरुष परीक्षा, दक्षिणकथा ४ ।

और विद्यापति ने अपनी पदावली में इसी को प्रकट कर दिखाया है । उपनिषदों में जो 'उपस्थमेवानन्दस्य एकायनम्' कहा गया है उसी को चरितार्थ कर दिखाना विद्यापति का काम है । अद्भुत और अपूर्व के दर्शन अथवा श्रवण से उसमें जो रति उत्पन्न हो जाती है वही तो काम, और फिर वियोग की आग में तप कर अपने निखरे हुए रूप में भक्ति कि वा प्रेम का रूप धारण कर लेती है । काम-कला और भक्ति-रसायन में वस्तुतः कोई ऐसा भेद नहीं कि एक दूसरे के उत्कर्ष में बाधक ही हों । इसी से तो जयदेव का कितना सटीक कहना है—

‘यद् गन्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद्दृष्ट्वं,
यच्छृंगारविवेकतत्त्वरचनाकाव्येषु लीलायितम् ।
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः,
सानन्दं परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः ॥’

यही नहीं तो ऐसा ही कुछ विद्यापति के विषय में भी कहा जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं। ‘अभिनव जयदेव’ वे हैं ही, फिर सन्देह क्यों ?

विद्यापति की जीवन के विषय में विशेष रूप से इतना ही कहना है कि उनका जीवनकाल जो कम से कम १३० वर्ष ठहराया गया है वह मान्य नहीं हो सकता। कारण कि जिस ‘नसरत शाह’ के आधार पर श्री उमेश मिश्र जी अपनी स्थापना खड़ी करते हैं उसका ठीक ठाक पता उनको नहीं है। उस समय दिल्ली-द्वर मुगल थे लोदी नहीं। ‘नसरत शाह’ का सम्बन्ध दिल्ली से जोड़ना ठीक नहीं। वह या तो जौनपुर का हो सकता है या बंगाल का। सो यहाँ भी ध्यान रखना है कि जौनपुर के शाहों में कोई ‘नसरत शाह’ इस समय हुआ ही नहीं। रही बंगाल की बात। सो श्री बिमनबिहारी मजूमदार जी ने इसे बंगाल के हुसैन शाह का पुत्र नौसरत शाह (१५१८-३१) या नासिरुद्दीन महमूद (१४२२-१४५४) का वाचक माना है। ध्यान देने की बात है कि एक ओर जहाँ ‘सुमुखि समाद समादरे समदल नसिरा शाह सुरताने’ में ‘सुरताने’ है दूसरी ओर वहीं ‘नसिरा भूपति सोरमदेइपति बंसनरायन भाने’ में ‘भूपति’ भी। किन्तु यह ‘नसिरा’ मिश्र जी का ‘नसरत साह’ ही है, इसे कौन कहे ? ‘कविशेखर भन अपरुवरूप देखि राए ‘नसरत साह’ भजलि कमलमुखि’ में ‘राय’ ‘भूपति’ का पर्याय है अथवा ‘साह’ का विशेषण यह भी विचारणीय है। ‘बंसनराएन’ १५११ में शासन कर रहे थे, अतः उनके साथ होने के कारण ‘नसरत शाह’ बंगाल के हुसैनशाह का पुत्र ही प्रतीत होता है जो उसके शासन में थात् ‘राय’ और ‘भूपति’ प्रसिद्ध था और फिर उसके निधन पर ‘सुरतान’ हुआ। इस प्रकार विद्यापति की निधन तिथि १५१८ के पहले तो कही नहीं जा सकती। परन्तु कहना तो यहाँ यह कि क्या विद्यापति के नाम पर जितने पद संगृहीत हैं सभी सचमुच विद्यापति ही

के हैं। हमारी धारणा तो यह है कि 'कबीर', 'सूर' और 'तुलसीदास' की भाँति ही 'विद्यापति' का नाम 'प्रतीक' सा हो गया है, पदों के आधार पर उनकी तिथि स्थिर करना तभी साधु होगा जब उनकी, खरी परीक्षा हो ले। श्री विद्यापति किस किस छाप से रचना करते थे यह भी निश्चित नहीं। श्री मजूमदार ने विद्यापति के पदों में 'भणित' पर जो विचार ज० बि० ओ० रि० सो० भाग २८ खंड ४ पृ० ४०६-४३ तक प्रस्तुत किया है वह द्रष्टव्य है। उससे इतना तो प्रकट हो जाता है कि पदों के आधार पर तिथि का निर्णय करना ठीक नहीं। अतः विद्यापति की जीवनी पर विचार करने समय उनके प्रबन्ध काव्यों तथा संस्कृत ग्रन्थों से ही विशेष सहायता लेनी चाहिये। सो, सौभाग्य से श्री मिश्र जी ने इतना लिख भी दिया है कि सन् १४५० ई० के लगभग दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' बनी होगी। जो हो, सन् १४४० में धीरसिंह जीवित थे और उनके निधन पर ही उनके अनुज भैरवसिंह सिंहासनारूढ़ हुये जिससे कहा जा सकता है कि विद्यापति सन् १४४० के उपरान्त भी जीवित रहे और 'नृपवर' भैरवसिंह की आज्ञा से 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' की रचना कर परधाम को गये। विद्यापति की यही अन्तिम संस्कृत रचना है। यदि इसके उपरान्त भी कम से कम १५०० ई० तक विद्यापति और जीवित थे तो उन्होंने संस्कृत में कोई अन्य और रचना क्यों नहीं की, कुछ इसका भी तो विचार होना चाहिये। अस्तु, हमारा कहना है कि जब तक कोई दूसरा हृद प्रमाण नहीं मिलता तब तक उनका जीवनकाल इससे और आगे भी बढ़ाया नहीं जा सकता। विद्यापति की 'भूपरिक्रमा' की रचना देवसिंह की आज्ञा से हुई थी जिनका निधन सन् १४११ में हुआ था। अतः इसका रचनाकाल इसके कुछ पहले माना जा सकता है। निश्चय विद्यापति इसी काल (१४००-१४५०) के कवि हैं। उनकी कविता का काल बढ़-घट सकता है। पर ऐसा मानने में कोई हानि नहीं।

३-कबीर

सच सच कहा जाय तो कबीर जनता के हृदय में व्यक्ति के रूप में नहीं प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हैं और यही कारण है कि आज भी कबीर के नाम पर कोई न कोई तुकबन्दी हो ही जाती है। यहाँ तक कि ठेठ में यह बात ही प्रसिद्ध हो गई है कि 'थोर बनावैं कबीरदास ढेर बनावैं कविता'। 'कविता' का प्रयोग कवि के अर्थ में स्वयं कबीर ने भी किया है और अन्य कवियों ने भी, अतएव इस पर आश्चर्य की कोई बात नहीं। अस्तु, इस कहावत का अर्थ यह हुआ कि कबीर की छाप से जो कुछ हमारे सामने आता है उसमें से अधिकांश कबीरदास की कृति नहीं। किसी न किसी 'कविता' की रचना है। व्यवहार और प्रतिदिन के काम-काज के लिये तो कवि की कविता की भौंति 'कविता' की कविताई का भी महत्त्व है और उससे अपने लक्ष्य में किसी प्रकार की बाधा भी उत्पन्न नहीं होती। किसी भी बेटुकी बात को व्यक्त करने के लिए कबीर का नाम पर्याप्त है। किन्तु तो भी यह तो हो नहीं सकता कि हम कबीर की बेटुकी बातों तक ही उनकी कृति को सीमित समझें और उस कबीर की ही झाँकी लें जो कमल-पुष्प से प्रकट हुआ और हंसों को उबारने का परवाना दे सत्य-पुरुष के रूप में सत्य-लोक में जा विराजा। आज से कुछ दिनों पहले जब कबीर की वाणी में कबीर के स्वरूप को पहिचानने का प्रयास किया जाता था तब लोग बौखला उठते थे और जो बौखलाता नहीं वह भी मुँह तो बना ही लेता था। किन्तु शोध की कृपा अथवा बुद्धि के प्रकोप से आज वह स्थिति नहीं रही। आज सभी को कबीरदास के जीवन की चिन्ता हो रही है और इधर-उधर की पुरानी पोथियों से उनका जीवन-वृत्त भी प्रस्तुत किया जा रहा है। अतएव संक्षेप में यहाँ भी कुछ कबीर के जीवन-वृत्त पर विचार किया जाता है। कबीर के सम्बन्ध में यह तो कोई भी व्यक्ति आँख मूँद कर कह सकता है कि कबीर जुलाहा थे और कर्म से जुलाहा थे। रही जन्म की बात, सो

उसकी कुछ न पूछिये । उनके काव्य से कहीं अधिक उनका जन्म ही पहेली बन गया है । विधवा ब्राह्मणी की संतान से लेकर दिव्य-पुरुष के अवतार तक उसकी दौड़ लगी है । किन्तु धीरे धीरे विद्वानों की मंडली में यह भी माना जाने लगा है कि कबीर जन्म से भी जुलाहा थे । किन्तु विवाद की इति यही नहीं हो जाती । प्रश्न उठता है—किस कुल के जुलाहा थे । कहना न होगा कि जिस संस्कार की प्रेरणा से कभी कबीर विधवा-ब्राह्मणी की सन्तान माने जाते थे उसी संस्कार की पुकार से आज जुगी-जुलाहा कुल की सन्तान मानने का आग्रह हो रहा है । जुगी कुल की ओर सकेत करने का कार्य किया स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बरदत्त जी बड-धवाल ने, और उसका डट कर प्रातपादन किया श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने । डाक्टर रामकुमार वर्मा भी अपने 'संत-कबीर' में इसी को ठीक समझते हैं । इस प्रकार कहा जा सकता है कि बहुमत अब इसी पक्ष में है । तो भी हमारा कहना है कि यह अनुमान है प्रमाण नहीं । कबीर के जन्म के सम्बन्ध में जिस ओर से विशेष जानकारी प्राप्त हुई है उसका श्रेय भी स्वर्गीय डाक्टर बडधवाल जी को दिया जा सकता है । उन्होंने ही सबसे पहले रैदास के उस कथन की ओर सकेत किया जिसमें कबीर के कुछ की चर्चा है । उसके विषय में कुछ और कहने के पहले उस पद को ही देख लेना चाहिये ।

हरि जपत तेऊ जनां पदम कबलास

पति तास समतुलि नहीं आन कोऊ ।

एक ही एक अनेक होइ विसथरिओ

आन रे आन भरपूरि सोऊ ॥ रहाउ ॥

जा कै भागवतु लेखीऐ अबरू नहीं

पेखीऐ तास की जाति आछोप छीपा ॥

बिआस महि लेखीऐ सबक महि

पेखीऐ नाम की नामना सपत दीपा ॥ १ ॥

जा कै ईदि बकरीदि कुल गऊ ब्रे बहु

करहि मानीअहि सेख सहीद पीरा ॥

जा कै बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी
 तिहू रे लोक परसिध कबीरा ॥ २ ॥
 जा के कुटुंब के डेढ सभ दोर दोवंत
 फिरहि अजहु बंनारसी आस पासा ॥
 आचार सहित विप्र करहि डडउति
 तिन तनै रविदास दासान दासा ॥ ३ ॥ २ ॥
 —श्रीगुरुग्रन्थसाहिब, रागु मलार अंत ।

इस पद में रविदास ने कबीर के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह शोध की ओल खोलने को पर्याप्त है तो भी हम देखते यह है कि लोग इस पर उतना ध्यान नहीं देते जितना वस्तुतः इस पर देना चाहिए । रविदास कहते हैं—

‘जा कै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बहु
 करहि मानीअहि सेल सहीद पीरा ॥’

आश्चर्य की बात है कि लोग इससे यह निष्कर्ष तो निकालते हैं कि कबीर मुसलमान-कुल में जनमे थे, पर यह नहीं मानते कि वह कुल कट्टर मुसलमान भी था । पता नहीं ‘गोवध करहि’ की गुत्थी को वे किस प्रकार सुलझाने और शेख, गहीद तथा पीर को कहाँ ले जाकर दफनाते हैं । हमारी तो पक्की धारणा है कि कबीर इसी कट्टर जुलाहा कुल में उत्पन्न हुए थे, कुछ किसी नव-प्रसल्लिम जुगी-जुलाहा कुल में नहीं । ‘जिन्द कबीर की संक्षिप्त चर्चा’ शीर्षक लेख में हम इस पर अन्यत्र विचार कर चुके हैं और वह हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से ‘विचार-विमर्श’ के अंश में प्रकाशित भी हो चुका है । उसमें यह दिखाने की भरपूर चेष्टा की गई है कि कबीर वस्तुतः किस कुल के जीव थे, अतः इस प्रसंग में यहाँ कुछ और कहने से कोई लाभ नहीं ।

जन्म की ओति हा कबीर का जन्म-स्थान भी संशय में पड़ गया है । बनारस के पास लहरतारा की जो प्रतिदि यी वह तो कमल के फूड और नीमा-नीरु के पोषक होने के कारण । इसके अतिरिक्त भी दो स्थानों को कबीर की जन्म-भूमि होने का

सौभाग्य कहीं न कहीं मिल ही गया है। उनमें से एक तो आजमगढ़ का बिलहरा गाँव है और दूसरा बस्ती का मगहर कसबा। 'बनारस गज़ेटियर' में बिलहरा गाँव का उल्लेख किया गया था और इस जन ने उक्त लेख में इसी को ठीक ठहराने का यत्न भी किया है। परन्तु यह तो होने न होने की बात ठहरी। बिलहरा पोखर ने लहरतारा का रूप धारण किया अथवा नहीं इसे निभ्रान्त रूप से ठीक ठीक कौन कह सकता है? अतएव लीजिये अब उस मगहर को जिसका निर्देश 'पुरातत्व-पञ्चताल-विवरण' (Reports of Archeological survey, pt. p.) में किया गया है और फिर कुछ जॉच पञ्चताल के कारण उसको अमान्य ठहरा दिया गया है। इस मगहर का फिर नाम आया कबीर-ग्रन्थावली की भूमिका में। धीरे धीरे यह भी विद्वानों में मान्य होता गया। इसका भी दृढ़ आधार मिला श्री गुरुग्रन्थसाहिब में संगृहीत कबीर की वाणी में ही। कबीर का एक पद है—

‘तूँ मेरो मेरूपरबतु सुआमी
ओट गही मैं तेरी ॥

ना तुम डोलहु ना हम गिरते
रखि लीनी हरि मेरी ॥ १ ॥

अब तब जब कब तुही तुही ॥
हम तुअ परसाद सुखी सदही ॥ १ ॥ रहाउ ॥

तोरे भरोसे मगहर बसिओ
मेरे तन की तपति बुझाई ॥

पहिले दरसनु मगहर पाइओ
फुनि कासी बसे आई ॥ २ ॥

जैसा मगहरू तैसी कासी
हम एकै करि जानी ॥

हम निरघन जिउ इहु घनु पाइआ
मरते फूटि गुमानी ॥ ३ ॥

करै गुमानु चुभहि तिसु सूला
 को काटन कउ नाही ॥
 अजै सु चोभ कउ विलल बिलाते
 नरके घोर पछाही ॥ ४ ॥
 कवनु नरकु किआ सुरगु बिचारा
 संतन दोऊ रादे ॥
 हम काहू की काणि न कढते
 अपने गुर परसादे ॥ ५ ॥
 अब तउ जाइ चढ़े सिंघासनि
 मिले है सारिंगपानी ॥
 राम कबीरा एक भए है
 कोइ न सकै पछानी ॥ ६ ॥ ३ ॥
 —राग रामकली ।

इस पद में जो—

‘पहले दरसन मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई ।’
 की बात कही गई है उसका अर्थ लगाया गया है मगहर में जनमने और
 काशी में आ बसने का । हो सकता है, परन्तु कब ? तभी न जब दर्शन
 पाने का अर्थ कहीं जन्मना भी होता हो । जहाँ तक संत-साहित्य की खोज
 हुई है और जहाँ तक देखने में आया है कहीं भी ‘दर्शन पाना’ का अर्थ
 ‘जन्म ग्रहण करना’ नहीं मिलता । न तो किसी वाङ्मय में और न किसी
 बोलचाल में ही । तो फिर यहीं इसका अर्थ ‘जनमना’ क्यों ग्रहण किया
 जाय ? हमारी दृष्टि में तो इसका संकेत कुछ और ही है । ‘दर्शन पाना’ का
 सामान्य अर्थ होता है ‘साक्षात्कार करना’, फलतः कबीर भी यहाँ अपने जन्म की
 कथा नहीं कह रहे हैं प्रत्युत कह रहे हैं अपने साक्षात्कार अथवा दिव्य-दर्शन की
 बात । सच तो यह है कि जिन बातों के कारण कबीर को लोग जुगी-कुल का
 जुलाहा मानते हैं उन बातों की पूँजी कबीर को यहीं मिली । मगहर के आस-पास

के पुराने डीह आज भी पुकार कर कहते हैं कि यह कभी महत्व का स्थान था और बुद्ध भगवान् ने यहीं विराग का चोला धारण किया था। कहते हैं कि कपिलवस्तु के विनष्ट हो जाने पर यही स्थान बौद्धों का विशिष्ट आश्रम बना, और यही श्रीनेत ठाकुरों के आधिपत्य के पहले यारुओं का भी अड्डा था। तो क्या बौद्ध सम्प्रदाय से निकले हुए सिद्धों और नाथों की दृष्ट-भूमि यह नहीं हो सकती जहाँ सहजा कबीर को 'शून्य महल' में परम पुरुष का साक्षात्कार हुआ और यही उनकी वाणी से 'पहले दरसन मगहर पाइओ' में फूट निकला? जो हो हमारी धारणा तो यही है कि मगहर से कबीर के जन्म का कोई सम्बन्ध नहीं और यदि है भी तो किस? द्वि-जन्म का ही।

कबीर को मगहर की सिद्ध-भूमि को छोड़ कर काशी में क्यों आना पड़ा, यह तो शोध की बात ठहरी। कबीर का स्वतः कहना तो यह है—

जैसा मगहर तैसी काशी हम एकै करि जानी।

इस 'एकै करि जानी' से यह तो सिद्ध नहीं होता कि 'एकै करि मानी' भी। काशी जैसी सिद्ध-विद्यापीठ को विद्या की दृष्टि से तो महत्व देना ही होगा—मुक्ति की दृष्टि से भले ही कबीर के लिये मगहर और काशी एक ही हो।

कबीर चाहे चहाँ कहीं, जिस किसी कुल में जनमें हों और चाहे जहाँ कहीं जिस भूमि में गड़े वा जले हों, किन्तु सदा वे माने गए हैं काशी के ही। कबीर और 'काशी का जुलाहा' पर्याय सा हो गया है। कबीर ने कहा भी है—

सगल जनमु सिव-पुरी गँवाइआ,

मरती बार मगहरि उठि आइआ।

बहुतु बरस तप कीआ कासी

मरनु भइआ मगहर की कासी ॥

—रागु गउडी।

काशी में जन्म बिताने और मरती समय मगहर में उठ आने का कारण क्या था? क्या कबीर अपनी इच्छा से शिव-पुरी को छोड़ मगहर में जा पड़े थे? अथवा

यह कर दिखाने के लिये जा पहुँचे ये कि मगहर में जो मरता है उसकी भी गति हो जाती है । कहने की बात नहीं कि कहने को चाहे संत-मंडली में जो कुछ कहा जाय परन्तु प्रमाण उसके पक्ष में एक भी नहीं है । वाराणसी क्षेत्र का प्रवाद अथवा वहाँ की जन-श्रुति कहती है कि कबीर को जब इस बात का पता लगा कि उनका निधन मगहर में होगा तब हाथ-पाँव कटा कर बनारस में जम रहे, परन्तु काल बली से कब किसी की चली ? काल अपना घोड़ा लेकर इनके सामने चढ़ने लगा और उसके मुँह की ओर पीठ कर उस पर बैठने लगा । भला कबीर से यह मुद्दता कब देखी जा सकती थी ? परिणाम यह हुआ कि जब कबीर घोड़े पर चढ़ने का ढंग सिखाने के लिये उसकी सहायता से घोड़े पर बैठ गए तब काल ने उन्हें उड़ा कर मगहर में जा पटका और वह वहीं के हो रहे । स्वयं कबीर को काशी छोड़ने का दुःख है । कहते हैं—

जिउ जल छोड़ि बाहरि भइओ मीना ॥
 पूरब जनम हउ तप का हीना ॥ १ ॥
 अब कहु राम कवन गति मोरी ॥
 तजीले बनारस मति भई थोरी ॥ रहाउ ॥
 सगल जनमु सिव पुरी गवाइआ ॥
 मरती बार मगहर उठि आइआ ॥ २ ॥
 बहुतु बरस तपु कीआ कासी ॥
 मरनु भइआ मगहर की वासी ॥ ३ ॥
 कासी मगहर सम बीचारो ॥
 ओछी भगति कैसे उतगसि पारी ॥ ४ ॥
 कहु गुर गजि मिव सभु को जानै ॥
 मुआ कबीरु रमत खीरामै ॥ ५ ॥

—गउड़ी ।

प्रस्तुत पद से इतना तो प्रकट ही है कि कबीर बनारस का छोड़ना 'मति भई थोरी' का परिणाम समझते हैं, और परिणाम-स्वरूप तबपते भी ऐसा हैं मानो

मीन जल से बाहर हो गया हो। तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि इसमें जो 'कासी मगहर सम बीचारी' का प्रसंग है वह कुछ उस ओर भी संकेत करता है जिसको लेकर संत-समाज में 'मगह मरे सो गदहा होय' को अन्याया सिद्ध करने के लिए कबीर का मगहर जाना प्रसिद्ध हो गया है। अच्छा, तो 'कासी मगहर सम बीचारी' का भाव क्या है ? और क्यों इसी के उपरान्त कबीर 'ओछी भगति कैसे उतरसि पारी' का नाम लेते हैं ? अवश्य ही यदि यह पद कबीर का ही है तो इसके आधार पर कहना ही होगा कि काशी में रह कर कबीर मगहर को चाहे जो कुछ समझते रहे हों परन्तु मगहर में आकर तो उनकी समझ बदल गई और उन्होंने मुक्ति के क्षेत्र में स्थान के माहात्म्य को माना। इतना ही नहीं मगहर—सम्बन्धी जो रचना कबीर की मिलती है उसमें कबीर सूफ़ी, साधक किंवा योगी के रूप में कदापि हमारे सामने नहीं आते। हमारे सामने तो उस समय उसमें उनका भक्त-रूप ही आता है। तो क्या कबीर अपने अन्तिम दिनों में शुद्ध वैष्णव बन गए थे ? 'मुआ कबीरू रमत खीरामै' को भी टॉक लें और कृपया टॉक लें "मिले हैं सारिगपानी" को भी।

प्रश्न उठता है कि कबीर ने काशी को क्यों छोड़ा और क्यों मरती समय मगहर को प्रस्थान किया। कुछ महानुभावों की धारणा है कि इसका मूल कारण है ब्राह्मणों का उपद्रव—'कबीर' गाना और सिकन्दर के दरबार में गुहार लगाना। परन्तु जो स्थिति को जानता और परिस्थिति को पहचानता है वह तो मान नहीं सकता कि कभी सिकन्दर जैसा कट्टर मुसलमान ब्राह्मणों की सुन सकता था और उनकी चुन चुन कर धज्जियाँ उड़ाने वाले मुसलमान जुलाहा को घोर-दंड क्या यम-यातना दे सकता था। भला जिसने आकर काशी में काशी के मन्दिरों को तोड़ा वही मन्दिर और मूर्ति के घोर विरोधी कबीर को कब गंगा में डुबा अथवा हाथी से कुचलवा सकता था ! नहीं, इसका रहस्य भी कुछ और ही है। इसे भी देख लें। कबीर कहते हैं—

गंगा गुसाहनि गहिर गंभीरा ।

जंजीर बाँधि करि खरे कबीर ॥ १ ॥

मनु न डिगै तनु काहे कउ डराइ ।

चरन कमल चितु रहिओ समाइ ॥ रहाउ ॥

गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर ।

मिगछाला पर बैटे कबीर ॥ २ ॥

कहि कबीर कोऊ संग न साथ ।

जल यल राखन है रघुनाथ ॥ ३ ॥ १० ॥ १८ ॥

—रागु-भैरव ।

असहाय कबीर रघुनाथ की कृपा तथा गंगा के प्रसाद से किस प्रकार शासन की गृहला से मुक्त हो गए यह तो देख लिया । अब कुछ हाथी की यातना को भी देखे—

भुजा बाँध भिला करि डारिओ ।

हसती कोपि मूँड महि मारिओ ॥

हसति भागि कै चीसा मारै ।

इआ मूरति कै हउ बलिहारै ॥ १ ॥

आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोरु ।

काजी बकिबो हसती तोरु ॥ १ ॥ रहाउ ॥

रे महावत तुम्हु डारउ काटि ।

हसहि तुरावहु घालहु साटि ॥

हसति न तोरै धरै धिमानु ॥

वाकै रिदै बसै भगवानु ॥ २ ॥

किआ अपराध मत है कीन्हा ।

बाँधि पोट कुंचरु कउ दीन्हा ॥

कुचरु पोट लै लै नमसकारै ।

बूझी नही काजी अंधिआरै ॥ ३ ॥

तीनि बार पतीआ भरि लीना ।

मन कठोरु अजहु न पतीना ॥

कहि कबीर हमरा गोबिंदु ।

चउये पद महि जन की जिंदु ॥४॥१॥४॥

—राग-गोब ।

कबीर इस कसौटी पर भी खरे उतरे और उन्होंने साहस तथा आत्म-विश्वास के साथ खुले शब्दों में फिर काजी साहब से कहा भी कि 'कहो तो सही अब मुझे क्या मानते हो ? जन या जिन्द, दास वा नास्तिक ?' कबीर ने जो इस अवसर पर 'जिंदु' शब्द का प्रयोग किया है वह बड़े महत्त्व का है । उससे आप ही यह सिद्ध हो जाता है कि कबीर को यह यातना किस ओर से और क्यों मिली थी । कबीर यदि मुसलिम से जिन्दीक न हो जाते तो उनको यह यातना कभी नहीं मिलती । इस जिंद के बारे में हमने 'जिन्द कबीर की संक्षिप्त चर्चा' में कुछ और भी विचार किया है । अतः संक्षेप में बताना यहाँ यह है कि मुसलमानी मजहब से कुछ हट जाने के कारण ही कबीर को नाना प्रकार का कष्ट सहना पड़ा और अबजब नहीं कि इसी के कारण विवश हो उन्हें मगहर का वास करना पड़ा । ऐसा मानने का एक प्रबल कारण यह भी है कि कबीर पंडितों के प्रतिकूल जो कुछ कह रहे थे वह कुछ नया नहीं था । पंडित कितने दिनों से उससे अभ्यस्त थे और कभी किसी को विचारों की स्वतन्त्रता के कारण सन्तप्त, त्रस्त या नष्ट नहीं करते थे । हाँ उसकी उपेक्षा की दृष्टि से अवश्य देखते थे और बहुत कुछ तुच्छ भी मानते थे । कबीर के प्रसंग में तो यह और भी संभव नहीं हो सकता, कारण कि वह मुसलमान थे और सिकन्दर लोदी जैसे धर्मान्ध के शासन में ऐसा होना तो और भी असम्भव था ।

कबीर को और भी निकट से जानने के लिए यहाँ पर एक दूसरा पद उद्धृत किया जाता है जो भाषा की दृष्टि से भी विवक्षित है और सम्प्रदाय की दृष्टि से भी । ध्यान से देखिये—

हुज हमारी गोमती तीर ॥

जहा बसहि पीतंबर पीर ॥ १ ॥

बाहु बाहु किया खूबु गावता है ॥

हरि का नाम मेरे मन भावता है ॥ १ ॥ रहाउ

नारद सारद करहि खवासी ॥

पासि बैठी बीबी कवलादासी ॥ २ ॥

कंठे माला जिहवा रामु ॥

सहंस नाम लै लै करहु सलामु ॥ ३ ॥

कहत कबीर राम गुन गावउ ॥

हिंदू तुरक दोऊ समझावउ ॥ ४ ॥

४ ॥ १३ ॥ (रागु आसा)

इस पद में पीताम्बर, हरि का नाम, कंठी, माला आदि तो वैष्णव की ओर हमें ले जाते हैं और हज्ज, पीर, बीबी, सलामु आदि इस्लाम की ओर । हमारी धारणा है कि कबीर ने जिस 'पितंबर पीर' की प्रशंसा की है वह कोई वैष्णव वेष्ट में रहने वाला मुसलमान फकीर है जो इस रूप से अपने मत का प्रचार ठीक उसी प्रकार करना चाहता था जैसा उसके कुछ दिनों बाद 'रोमक' संन्यासी पंडित डी नोब्लि अपने मत का । भूलना न होगा कि इस प्रकार का प्रचार मुसलमानों के द्वारा भारतवर्ष में हुआ और बहुत से लोग इस प्रकार इस्लाम में दीक्षित भी हो गए । बोहरे और खोजे इसी ढंग से इस्लाम में आए और बहुत से कोरी कुनबी भी । यदि हम पीरों की ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो देखते यह हैं कि इसी समय जौनपुर में ही एक सैयद मुहम्मद पीर थे जो महदी के अवतार माने जाते थे और जिनके 'घर की रीति' कही जाती है—

फाटा पहने टुका खायें

रावल देवल कहीं न जाय ।

इस घर आई याही रीति,

पानी चाहें और मसीत ।

तो क्या कबीर के पीताम्बर पीर ये ही थे । इनका जन्म १४४३ ईसवी में हुआ था

और इनका निघन हुआ सन् १५०३ में। हाँ, इतना और भी जान लें कि जौनपुर का उस समय का बादशाह हुसैन शाह शर्का संगीत का बड़ा प्रेमी था और था इस महदी का अनुचर भी। कहते हैं कि इसके रूप्यों से सैयद मुहम्मद महदी ने १५०० वैरागियों को अपनी ओर कर लिया था जो संग्राम भूमि में हुसैन शाह के साथ रहे।

वैरागियों से कबीर का क्या संबंध था इसे कोई भी कह सकता है। वैरागी रामानन्दी होते हैं और कबीर रामानन्द के शिष्य कहे जाते हैं। कुछ दिनों पहले तक कबीर सचमुच रामानन्द के शिष्य माने जाते थे। परन्तु आज शोध की कृपा से इसमें सदेह उत्पन्न हो गया है। कारण यह है कि इसका संकेत न तो कहीं 'कबीर-ग्रन्थावली' में ही मिलता है और न कहीं 'गुरु-ग्रन्थ' साहिब में ही। कहने की बात नहीं कि साहित्य के विद्वानों ने जैसे-तैसे अभी तक इन्हीं ग्रन्थों को प्रमाण की कोटि में माना है और इन्हीं को कबीर की कसौटी में रखना चाहा है। एक दूसरी भी बात यह है कि स्वामी रामानन्द का और कबीर का समय साथ साथ नहीं पड़ता। उधर हम देखते हैं कि नाभादास जैसे साधु लेखकों ने कबीर-दास को रामानन्द का शिष्य ठहराया है और पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे पुनीत समीक्षक ने इसे दृढ़ सत्य भी मान लिया है। ऐसी स्थिति में संक्षेप में कुछ नहीं कहा जा सकता। और यदि कहना ही है तो यही कहना होगा कि यदि कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य नहीं थे तो न सही, किन्तु उनकी विचार-धारा से प्रभावित तो अवश्य थे। कबीर की एक साखी है जिसमें कहा गया है—

‘कबीर गुर बसै बनारसी, सिव समदा तीर।

बिसारया नहीं बीसरै, जे गुण होइ सरीर।’

—कबीर-ग्रन्थावली पृ० ६८।

इसमें पहले तो सामान्य बात कही गई है दूसरे यदि कोई व्यंजना टूँड़ी भी जाय तो वह स्वयं कबीर के पक्ष में भी पड़ सकती है और रामानन्द के पक्ष में भी। निदान मानना पड़ता है कि उक्त ग्रन्थों के आधार पर कबीर के गुरु का ठीक

ठीक निर्णय हो नहीं सकता । हाँ, मानने को यह माना जा सकता है कि वह वैष्णव नहीं तो वैष्णव के साथी अवश्य थे । क्योंकि उन्होंने कई साखियों में इसीका निर्देश किया है । रामानन्दी की व्याख्या यह की गई है—

‘रा’ शक्तिरिति विख्याता ‘म’ शिवः परिकीर्तितः ।

तदा नन्दी शान्तचित्तः प्रसन्नात्मा विचारदृक् ,

सर्वत्र समरूपञ्च रामानन्दी प्रकीर्तितः ।”

कबीर इस कसौटी पर कहाँ तक ठीक उतरते हैं इसे हम कहना नहीं चाहते । हमें कहना तो यहाँ केवल इतना भर है कि हमें कबीर में भी ‘ररों’ और ‘ममों’ का सूत्र मिलता है । कबीर का कहना है—

‘ररों ममों दोई अखिर सारा

कहे कबीर तिहूँ लोक पियारा ।’

—कबीर-ग्रन्थावली, पद २८९ ।

कबीर का यह ‘ररों’ ‘ममों’ ध्वन्यात्मक राम का परिचायक है । रामानन्द की भक्ति किस ढब की की थी इसको ‘स्त्री सैणु’ के मुँह से सुनिए—

‘धूप दीप घृत साजि आगती ॥

वारने जाउ कमलापती ॥ १ ॥

मंगला हरि मंगला ॥

नित मंगलु राजा राम राह को ॥ १ ॥ रहाउ ॥

ऊतम दीअरा निरमल बाती ॥

तुंही निरंजनु कमलापाती ॥ २ ॥

रामा भगति रामानंदु जानै ॥

पूरन परमानंदु बखानै ॥ ३ ॥

मदन मूरति भै तारि गोविंदे ॥

सैणु भणै मजु परमानंदे ॥ ४ ॥ १ ॥

—श्रीगुरुगन्यसाहिब, रागु धनासरी ।

भक्तसेन ने रामानंद के बारे में जो कुछ बताया है उसको दृष्टि में रख कर अब स्वयं 'सुआमी रामनंद' की गुरुग्रन्थ साहिब में दिये गये पद पर विचार कीजिये । उनका पद है—

‘कत जाईये रे घर लागो रगु ॥

मेरा चितु न चलै मनुभइओ पंगु ॥ १ ॥ रहाउ ॥

एक दिवस मन भई उमंग ॥

घसि चंदन चोआ बहु सुगंध ॥

पूजन चाली ब्रह्ममठाइ ॥

सो ब्रह्मु बताइओ गुर मन ही माहि ॥ १ ॥

जहा जाइऐ तह जल पखान ॥

तू पूरि रहिओ है सभ समान ॥

वेद पुरान सभ देखे जोइ ॥

ऊहां तउ जाईऐ जउ ईहा न होइ ॥ २ ॥

सतिगुर मै बलिहारी तोर ॥

जिनि सकल विकल भ्रमकाटे मोर ॥

रामानंद सुआमी रमत ब्रह्म ॥

गुर का सबदु काटै कोटि करम ॥ ३ ॥ १ ॥

—रागु वसंतु ।

इन उभय रूपों में रामानन्द का कौन इष्ट रूप है इसकी मीमांसा में हम नहीं पड़ते । जताना तो हम यह चाहते हैं कि इनमें से दूसरा रूप ही कबीर को प्रिय है और दूसरे रूप में भी दूसरी बात ही—अंजन के साथ निरंजन नहीं केवल निरंजन । कबीर ने स्पष्ट कहा भी तो है—

केवल राम कबीर ददाया ।

अथवा—

‘निर्गुण राम जपो रे भाई ।’

कबीर के बारे में इतना कहते ही कहीं से यह भी सुन पड़ा कि कबीर का

संस्कार ही ऐसा था । निवेदन है यह सिद्ध कैसे हो गया ? यह संस्कार सीधे सिद्धों और नाथों से प्राप्त हुआ था अथवा रामानंदी प्रसाद था । पहले के सबंध में तो यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सामग्री के आधार पर कबीर का कुल हिन्दू-मुसलमान सिद्ध नहीं होता । कबीर जिस कुल में उत्पन्न हुये थे वह कभी नाथ पंथी जोगी था यह कैसे मान लिया जाय ? कबीर का एक पद है—

नित उठि कोरी गागरि आनै

लीपत जीउ गइओ ॥

ताना बाना कछू न सूझै

हरि हरि रस लपटिओ ॥ १ ॥

हमारे कुल कउने रामु कहिओ ॥

जब की माला लई निपूते

तब ते सुखु न भइओ ॥ रहाउ ॥

मुनहु जिठानी मुनहु दिरानी

अचरजु एकु भइओ ॥

सात सूत इनि मुडीए खोए

इहु मुडीआ किउ न मुइओ ॥ २ ॥

सरब सुखा का एकु हरि सुआमी

सो गुरि नागु दइओ ॥

सत प्रह्लाद की पैज जिनि राखी

हरनाखसु नख बिदरिओ ॥ ३ ॥

घर के देव पितर की छोडी

गुर को सबदु लइओ ॥

कहत कबीर सगल पाप खंडनु

संतह लै उधरिओ ॥ ४ ॥ ४ ॥

—वही, रागु बिलावल ।

इस पद का आध्यात्मिक अर्थ चाहे जो लगे पर प्राकृत अर्थ तो यही है कि

कबीर का यह वैष्णव रूप उसकी माँ को केवल खटकता ही नहीं अपितु अपने कुल की मर्यादा के प्रतिकूल भी दिखाई पड़ता है। 'हमारे कुल कउने राम कहिओ' की गुहार पर भी तो कान देना चाहिये और उसकी कुल-कानि पर भी तो कुछ विचार करना चाहिये ? नहीं, कबीर का कुल नाथपंथी जोगी वा जुगी-कुल हो नहीं सकता, और चाहे जो हो।

कबीर के पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में इधर उधर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और अब लोग मानने भी लगे हैं कि कोई उनकी पत्नी तो थी ही एक दूसरी पत्नी भी धनिया नाम की निकल आई, जिसको लोग 'रामजनिया' कहा करते थे। और इनके पुत्र भी था जिसको लोग कमाल कहते थे—

बूझा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।

तो घर घर फैल चुका है। उसको और बढ़ाना यर्थ है। इसकी दिशेष जानकारी के लिये इस जन का 'कबीर का जीवन वृत्त' शीर्षक लेख देखना चाहिए जो नागरी-प्रचारिणीपत्रिका संवत् १९९१ में प्रकाशित हो चुका है। साथ ही 'जिंद कबीर की संक्षिप्त चर्चा' को भी देख लें तो अच्छा ही हो।

इतनी गवेषणा के उपरान्त अब कबीर के सन-संवत् के सम्बन्ध में भी कुछ कहना चाहिये। कबीर के जन्म सम्बन्ध में कबीर-पंथियों में एक दोहा प्रचलित है, जो है—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाट ठए।

जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रकट भए ॥

इससे प्रकट होता है कि कबीर का जन्म ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् १४५५ में हुआ था। इसी प्रकार कबीर के निधन के सम्बन्ध में भी एक तिथि प्रचलित है—

संवत् पन्द्रह सै पचहत्तरा, कियो मगहर को गौनु।

माघ सुदी एकादशी, रलौ पौन में पौनु ॥

इसके अनुसार माघ सुदी एकादशी संवत् १५७५ और किसी किसी की दृष्टि में संवत् १५०५ में कबीर का निधन हुआ। इसके अतिरिक्त संवत् १५४९ को भी कुछ लोग ठीक समझते हैं। कहा भी गया है—

‘पन्द्रह सै उनचास मे, मगहर कीनौ गौनु ।

अगहन सुदि एकादर्शा, मिः पौन में पौन ॥

—भक्तमाल की टीका ।

इससे गमन की तिथि तो मिलनी है किन्तु इसका ‘उनचास’ ‘पछत्तर’ का और ‘अगहन’ ‘माघ’ का पर्याय हो कर आया है । दोनों में ठीक कौन है इसका उत्तर ठीक ठीक कैसे दिया जा सकता है ? इसके सम्बन्ध में एक और भी बात मिलता है—

सुमंत पंद्रा सौ उनहत्तरा हाई

सतगुरु चले उठ हंसा जाई ।

—धर्मदास—द्वादश पंथ ।

इसमें ‘उन’ ‘उनचास’ की ओर जाता है तो ‘हत्तरा’ ‘पचहत्तरा’ की ओर । इन तीनों का मूल तो एक ही निर्देश देता है, पर वह क्या है यह स्पष्ट नहीं होता । पंद्रह सै उनचास को मानने में एक ही बाधा उपस्थित होती है जो है सिकंदर लोदी की । परन्तु वस्तुतः यह बाधा भी तर्ज, हमारे सामने उपस्थित होती है जब हम यह मान लेते हैं कि काज़ी की ओर से कबीर को जो दंड मिला वह सिकंदर के बनारस आने पर ही । कबीर के पदों में कहीं इसका कोई निर्देश नहीं है और समझ की बात तो यह प्रतीत होती है कि यह दंड काज़ी की ओर से ही मिला या । इसमें सिकंदर की अनुमति थी वा प्रेरणा इससे कोई लाभ नहीं । कबीर को यह दंड मिला, यही यहाँ पर्याप्त है ।

कबीर की जीवनी पर विचार करते समय एक और गड़बड़ी सामने आती है जिसका सम्बन्ध इतिहास से है । न जाने किस आधार पर भारत की पुरातत्त्व पड़ताल (Archeological Survey of India, New Series, North Western Provinces, Pt. 2, p. 224) में लिख दिया गया कि सन् १४५० (संवत् १५०७) में बिजली खाँ ने कबीरदास का एक रौजा बनवाया जिसका जीर्णोद्धार सन् १५६७ ईसवी में

नवाब फिदाई खाँ ने किया। हम पहले भी कह चुके हैं कि इस पबताल में पब-ताली महोदय से कुछ भूल हुई थी। हम इसे भी भूल ही समझते हैं। संभव है इस स्थान का सम्बन्ध पहले किसी बौद्ध समाधि से रहा हो और किसी प्रकार यह सवत् कबीर के रौजा के साथ जुट गया हो। अथवा किसी प्रकार सवत् १५५० वा सन् १४५० हो गया हो। कुछ भी हो अभी तक कहीं इस सन् की साधुता का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ तो फिर किसी पबताल में लिखित होने के कारण ही हम इसे इतना महत्त्व क्यों दें कि कबीर का जीवन वर्षों पीछे चला जाय और अनेक गुत्थियाँ उत्पन्न करे।

इसके विपरीत एक दूसरा पक्ष भी है। उसका कहना है कि कबीर का नाना रामानन्द से इतना जुटा चला आया है कि सहसा हम उसे तोड़ भी नहीं सकते। संत सम्प्रदाय एवं अन्धव्रत भी इसका उल्लेख मिलता है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे। अतः जैसे हो तैसे कबीर को रामानन्द के निकट लाना ही चाहिये। कबीर के निधन सवत् की अपेक्षा उनके जन्म सवत् को अधिक महत्त्व देना ठीक नहीं। कारण यह कि एक तो जन्म की अपेक्षा निधन को ही लोग अधिक जानते हैं और दूसरे कबीर का जन्म कोई बहुत बड़े कुल के बालक का जन्म नहीं था कि उसको कहीं टॉक लिया जाता। कबीर के निधन का सवत् १५०५ ही ठीक है। उसे १५७५ तो किसी ने यों ही सिकन्दर लोदी से मेल मिलाने के लिये अथवा किसी अन्य कारण से कर दिया होगा। 'पिचांतर' का पछत्तर हो जाना कोई कठिन नहीं। उनके विचार में कबीर का निधन सवत् १५०५ में हुआ और सवत् १५०७ (सन् १४५०) में उनका स्मारक बना। ऐसा मानने से यह भी सम्भव हो जाता है कि कबीर का समय रामानन्द के समय से मेल खा जाय और सम्प्रदाय की बात भी रह जाय। यही वह न्याय और यही वह प्रेरणा है जिसके कारण स्वर्गीय डाक्टर बब्रवाल ने १४२७ सवत् के लगभग उनका जन्म माना है, और इस प्रकार उन्होंने कबीर के जीवन से अनेक गुरुमाइयों के जीवन का नाता भी निबाह दिया है। इस प्रणाली पर इतना और भी कहा जा सकता है कि जन्म-सवत् के 'प्रकट भए' का अर्थ भक्त रूप में प्रकट होने का लिया जा सकता है। कुछ भी हो ऐसी

स्थिति में निश्चयपूर्वक कबीर के जन्म-मरण और जीवन के बारे में ठीक ठीक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, पर माना इतना अवश्य जा सकता है कि कबीर ये और अन्त में एक सिद्ध फकीर के रूप में अपना चमत्कार दिखा आँखों से ओझल हो गये और लोगों में उनके निधन पर कुछ छीन-झपट भी हो गई ।

कबीर के जीवन की पूछताछ में तो कहीं से कुछ सामग्री मिल सकता है और उस पर कुछ न कुछ तर्क-वितर्क भी किया जा सकता है, परन्तु कबीर के काव्य की मीमांसा में क्या किया जाय । जिन लोगों की रचनाएँ उन्हीं के द्वारा निर्रिप बद्ध हुई थीं उनमें भी श्लेषक घुप ही गया फिर उसकी वाणी के विषय में क्या कहा जाय जो एक मुँह से निकलती और न जाने कितने कानों में किस रूप में पड़ कर किस मुख से किस रूप में निकलती और फिर देश काल के अनुसार अपना रंग बदलती रहती थी । किसी भी काव्य की कसौटी भाषा, भाव, विचार, शब्द, संकेत और छाप आदि विविध अंगों में से कोई न कोई अंग ठहराया जाता है, और फिर सभी के मेल-जोल से सार-रूप में कुछ निष्कर्ष भी निकाल लिया जाता है । उसके प्राप्त रूपा की तिथि भी काम की हो जाती है । निर्भ्रान्त सिद्धान्त न हाने पर भा प्राचीनता को प्रश्रय दिया जाता है । कबीर की वाणी के विषय में भी ऐसा हो हुआ । स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुंदरदास को कबीर की एक ऐसी हस्तलिखित पुराना पोथा हाथ लगा जो पुरानी और सवत् १५६१ की लिखी हुई कही गई है । उन्होंने शीघ्र इसका प्रकाशन भी कर दिया जिससे कुछ दिनों के लिये लोको को बड़ी प्रसन्नता भी हुई । परन्तु शोधकों की दृष्टि जब इसकी पुष्पिका पर पड़ी तब इसकी स्थिति कुछ और ही हो गई । इसकी भाषा भी निराली निकली और लोगों को इसकी खराई पर सन्देह हो गया । यह सन्देह यहाँ तक बढ़ा कि डाक्टर रामकुमार वर्मा ने इसे छोट-गुरु-ग्रन्थ-साहिब में अवतरित कबीर के वचनों को ही प्रमाण माना और इस बात की चेष्टा भी कुछ कम न की कि लोग उसीको अभी प्रमाण मानें और तब तक मानते रहें जब तक कबीर की कोई और प्रामाणिक प्रति प्राप्त नहीं हो जाती । श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब के माहात्म्य में किसी को आपत्ति नहीं, किन्तु कबीर के काव्य को उसीमें शुद्ध रूप में पाए जाने में बहुतों

को सन्देह है। इसका प्रधान कारण यह है कि गुरु-ग्रन्थ-साहिब का वर्तमान रूप उतना पुराना नहीं है जितना कि डाक्टर मोहनसिंह जी के आधार पर उक्त डाक्टर महोदय मानना चाहते हैं। यह सच है कि गुरु अर्जुनदेव (संवत् १६२०-१६६३) ने अनेक संतों की वाणी का संग्रह कराया था। किन्तु यह सच नहीं है कि आज सिक्ख मत में गुरु-ग्रन्थ-साहिब की जो प्रतिष्ठा है वह उनके समय में भी थी। श्री गुरु-ग्रन्थ साहिब को सिद्ध आसन पर बिठा देना और गुरु के स्थान पर उसी को पूज्य मानना गुरु गोविन्दसिंह का विधान है, कुछ गुरु अर्जुनदेव का प्रयत्न नहीं। कहा जाता है कि गुरु गोविन्दसिंह (संवत् १७२३-१७६५) ने लगातार ६२ घंटे तक बोलकर ४४ लेखकों की सहायता से इस अनुपम ग्रन्थ को प्रस्तुत किया और श्री मनीसिंह ने पहले पहल इसको रागों में बाँटा। यदि यह ठीक है तो मानना ही होगा कि श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब में किसी भी महात्मा की वाणी का जो रूप है वह गुरु गोविन्दसिंह की स्मृति का प्रसाद है और उसे हम गुरु अर्जुनदेव के समय की वस्तु शुद्ध दृष्टि से नहीं मान सकते। इसे तो संवत् १७६५ के पास ही की वस्तु समझना चाहिये। कारण कि उसी के लगभग गुरु गोविन्दसिंह ने इसको लिपि-बद्ध कराया था।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि गुरुमुखी लिपि जिसमें कि गुरु ग्रन्थ साहिब लिखे गए थे उतनी पूर्ण नहीं है जितनी कि नागरी। और यह भी स्पष्ट रहे कि—

“श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में प्रायः अनुस्वार का प्रयोग नहीं हुआ है। जहाँ इस की आवश्यकता जान पड़े पाठक गण अपने अनुभव के अनुसार उसका उच्चारण कर सकते हैं। यथा पहले ही पृष्ठ पर दूसरी पंक्ति में ‘सोचै सोचि न होवई जे सोची लख बार’ में ‘सोची’ का उच्चारण ‘सोची’ होगा। इसके और आगे ‘जे लाइ रहा’ में ‘रहा’ का उच्चारण ‘रहा’ है। इत्यादि।”

(श्रीगुरु ग्रन्थ-साहिब, प्रकाशक—सर्व हिन्दुसिक्ख मिशन, अमृतसर, १९३७, पाठकों से विनय।)

इस विनय से इतना तो व्यक्त ही है कि स्वयं सिक्ख-संप्रदाय में भी शब्दों का

वही रूप मूल रूप नहीं समझा जाना जो कि श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब में भिन्ना वा छपा होता है। उसमें अनुस्वार की छूट है ही फिर उसा को सत कबीर की वाणी का शुद्ध रूप समझना कहाँ का न्याय है ?

हाँ, तो अनुस्वार पर विशेष ध्यान देने का कारण यह है कि 'कबीर-ग्रन्थावली' में अनुस्वार की ही अधिकता है। उस आधिस्य का कारण तो कुछ बताया जा सकता है किन्तु इस अनुस्वार-लोप का कारण आँखों से ओझल कर दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्री-गुरु-ग्रन्थ-साहिब का पाठ प्रत्यक्ष ही अपने वर्तमान रूप में भाषा के क्षेत्र में प्रमाण नहीं हो सकता। अब रही पाठ के दूसरे टुक की बात। सो इसे भी देख लें। कबीर की एक साखी है जिसे डाक्टर वर्मा ने गुरु-ग्रन्थ-साहिब के अनुसार 'सलोक' माना है। उस 'साखी' को लोजिये और देखिये क्या सचमुच वही पाठ सम्भव है। सलोक है—

‘कबीर जिह मारगि पडित गए पाछे परी बहीर।

इक अवघट घाटी राम की तिह चढ़ि रहिओ कबीर ॥’

—सत कबीर, सलोक १६५।

इसी को आप हम रूप में तो देखें और फिर कहें कि शुद्ध पाठ क्या होगा। देखिये—

‘जिहि मारग पडित गए, पाछे परी बहीर।

अवघट घाटी राम की, तिह चढ़ि रहिओ कबीर ॥’

मला एक ही सलोक में दो स्थलो पर कबीर के आ जाने की कौन सी बात थी और 'इक' की ही कौन सी ऐसी आवश्यकता थी जिसके बिना सलोक में कोई त्रुटि आ जाती ? हमारी दृष्टि में इन दोनों शब्दों का प्रयोग कोई महत्त्व नहीं रखता। अच्छा होगा, थोड़ा एक दूसरे 'सलोक' पर भी विचार कर लिया जाय। कहते हैं—

‘कबीर अंबर घनहरु छाइआ बगवि भरे सरताप।

चात्रिक जिउ तरसन रहे तिन को कउनु हवानु ॥’

—संत कबीर, सलोक १२४।

इसी का एक दूसरा पाठ यह है—

‘राति जो सारस कुरलिआँ,
गुंजि रहे सब ताल ।
जिणकी जोषी बीछरी,
तिणका कवण हवाल ॥’

—टोला मारू री कथा, ५३ .

और कबीर-ग्रन्थावली में इसीका रूप यह है—

‘अंबर कुंजा करलियाँ,
गरजि भरे सब ताल ।
जिनि पै गोविंद बीछुटे,
तिनके कौण हवाल ॥’ —पृष्ठ ७ ।

यहाँ भी इतना तो प्रकट ही है कि श्रीगुरु-ग्रन्थ-साहिब में कबीर ऊपर से आगय है । ‘टोला-मारू री कथा’ में भी यह दोहा लिया हुआ सा प्रतीत होता है । कारण कि उसमें जो जोषी की बात कही गई है वह प्रसंग की प्रेरणा से ही । प्राचीनता की दृष्टि से तो कबीर की साखी ही ठीक ठहरती है । क्योंकि कोई कारण यह नहीं दिखाई देता कि जिसकी प्रेरणा से टोला का पद कबीर का पद बना लिया जाय । हाँ, दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध यही होता है कि साखी को ही टोला में कुछ परिवर्तन के साथ अपना लिया गया है । गोविंद से बिल्लुबने में जो बात है वह जोषी के बिल्लुबने में नहीं ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में पाठभेद है ही नहीं । उदाहरण के लिये ‘हज्ज हमारी गोमती तीर’ को ही ले लीजिये । डाक्टर वर्मा ने पाठ दिया है ‘हज’ किन्तु सिक्ख मिशन संस्करण में पाठ है ‘हज्ज’ सबसे बड़ी बात तो यह है कि जहाँ श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब में साखी को ‘सलोक’ कर दिया गया है वहीं टेक को ‘रहाउ’ भी । पता नहीं डा० वर्मा ने अक्षरशः उतारने पर भी अपने ‘संत कबीर’ में इसकी उपेक्षा क्यों की । क्या इस ‘रहाउ’ और इस ‘सलोक’ के कारण हम यह कहने का साहम नहीं कर सकते कि श्री गुरु-ग्रन्थ साहिब में जो

संतों की बानी संगृहीत हुई है उसमें कुछ अपनापन भी है। हाँ, यह कहना तो भूल ही गये कि सिक्ख मिशन संस्करण में 'सलोक' नहीं 'सलोकु' है। तो क्या इसका भी कुछ रहस्य है। जो हो, कहना तो हम यह चाहते हैं कि 'ग्रन्थावली' के सामने 'श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब' को पाठ की दृष्टि से महत्त्व देना ठीक नहीं। किसी भी दशा में 'मिउ' पाठ ठीक नहीं कहा जा सकता। उसे तो 'म्यौ' 'सैं' 'सैं' की भाँति 'मिउ' होना ही पड़ेगा और होना पड़ेगा 'हउ' को 'हउँ' ओप के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कुछ समझ लीजिये।

श्री गुरु-ग्रन्थ साहिब की स्थिति इतने से ही कुछ स्पष्ट हो गई होगी। अब 'श्री कबीर-ग्रन्थावली' को भी कुछ देख लेना चाहिये। कबीर ग्रन्थावली जिस प्रार्चन प्रति पर आश्रित है वह सवत् १५६१ की कही गई है। उसकी पुष्पिका में सवत् १५६१ लिखा भी है। अचरज की बात तो यह है कि जो प्रत्यक्ष है उसको प्रमाण के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है परन्तु जो यथार्थ है उसको खोलने का ध्यान ही किसी को नहीं हुआ है। प्रति की पुष्पिका में लिखावट में बड़ा भेद है। यह भेद छिपाया नहीं गया है कि उसे खोल दिखाने का अपार श्रम किया जाय। सामान्य भेद तो प्रति के 'अथ' तथा 'इति' में भी है। प्रति का आरम्भ होता है—

॥ श्री राम जी ॥ अथ कबीर जी की वाणी लिखता ॥

और 'इति' है—

इति श्री कबीर जी का वाणी संपूर्ण समाप्तः ॥

'अथ' में जहाँ 'कबीरजी' हैं। 'इति' में वहाँ 'श्री कबीर जी' इसी प्रकार प्रथम पृष्ठ के 'राम १' में जहाँ 'र' पर अनुस्वार नहीं है, वहीं अन्तिम पृष्ठ के 'राम ७२' के 'ग' पर अनुस्वार है। किन्तु कोई कह नहीं सकता कि इनकी लिखावट भिन्न है। इतना तो प्रसंगवश केवल यह दिखाने के हेतु कर दिया गया है कि एक ही लिखावट में भी अनुस्वार अथवा विन्दु का भेद हो सकता है। कुछ यह बताने के लिये नहीं कि पुष्पिका और मूल की लिखावट में कुछ भेद नहीं।

'श्री कबीर जी की वाणी' का जो अन्तिम पृष्ठ कबीर ग्रन्थावली में प्रतिबिम्बित है उस पर दृष्टि पड़ने ही यह आभास होता है कि 'रमैणी' से कुछ ढग बदल

गया है और 'संपूर्ण' से तो सपूर्ण लिखावट ही कुछ और हो गई है। विद्वानों ने लिखावट की जाँच-पड़ताल करके यह निष्कर्ष निकाला है कि 'रमैणी' से लेकर 'सपूर्ण' के पहले तक की लिखावट भी वही है जो मूल की है। इसमें जो अन्तर आ गया है वह किसी और कारण से। हमारी दृष्टि में इसका मूल कारण यह है कि 'रमैणी' तक लिख लेने के उपरान्त लेखक को यह चिन्ता हुई कि यहीं श्री कबीर जी की वाणी का 'इति' हुई अथवा नहीं। इस विचार से उसने लिखनी यहीं रख दी और जब उसे पता हो गया कि उसे बस इतना ही लिखना था तब उसने 'इति श्री कबीर जी की वाणी सपूर्ण समाप्तः' लिख दिया। और इसे मलुकदास के हाथ में सौंप दिया। यह मलुकदास कौन हैं इसकी छानबीन होनी चाहिये। मलुकदास ने क्या किया यह भी पुष्पिका से कुछ समझ में आ सकता है। पूरी पुष्पिका है—

“सपूर्ण संवत् १५६१ लिप्यकृत्य वाणारसमध्य प्रेमचन्द पठनाथ मलुकदास बाचविचा जासू श्री रामरामछ यादसि पूस्तकं द्रष्टु तादसं लित मया यदि शुद्धतो वा मम दोशो न दियतां १२ः”

इस पुष्पिका में तीन खंड हैं। एक तो 'संपूर्ण' से लेकर 'मलुकदास' तक, दूसरा—'बाचविचा' से 'छ' तक, और तीसरा—'याद' से 'दियता' तक। पहले खंड पर लोगों ने ध्यान दिया है। तीसरे पर भी ध्यान दिया है, किन्तु दूसरे पर ध्यान देने की बात ही नहीं उठी। हमारी समझ में इस जाँच-पड़ताल में सबसे बड़ी भूल यही हुई है। हमारी दृष्टि में इसका अर्थ यह है कि 'बनारस में प्रेमचन्द ने संवत् १५६१ में मलुकदास के लिए इसको लिखा। और इस दृष्टि से लिखा कि मलुकदास उसको बाँचेंगे जिससे कि श्री राम राम का प्रचार होगा।' प्रेमचन्द ने जो वाणी का आरम्भ 'अथ कबीर जी की वाणी' से किया था, वह अन्त में 'इति श्री कबीर जी की वाणी' में परिणत हो गया। अर्थात् उसकी दृष्टि में श्री कबीर जी का महत्त्व बढ़ गया। इस मसि-जीबी प्रेमचन्द ने जीविका की दृष्टि से इसे नहीं लिखा था। उसका लक्ष्य तो श्री राम राम का प्रचार था और यह प्रचार बाबा 'मलुकदास बाचवैया' के द्वारा हो

सकता था। इसीसे उसने अपने इस श्रम को उनको समर्पित कर दिया और इसमें अपनी सिद्धि समझी। प्रतीत होता है कि पुष्पिका के अभाव अथवा स्थिति को स्पष्ट करने के विचार से मलुकदास अथवा किसी अन्य व्यक्ति ने यह पुष्पिका लिख दी और इस खंड के द्वारा वस्तु-स्थिति की ओर उचित निर्देश भी कर दिया। निश्चय ही मूल की लिखावट किसी सिद्ध मसिजीवी की लेखनी का परिणाम है और पुष्पिका किसी अन्य अनन्यासी का प्रतिकल। तृतीय खंड तो परम्परा का पालन भर है। वह मूल से कितना भ्रष्ट हो चुका है इसके कहने की आवश्यकता नहीं और न यह कहने से कोई लाभ ही है कि प्रथम खंड का 'सपूर्ण' 'संपूर्ण' से 'संपूर्ण' हो गया। कहने की बात तो यह है कि यह पुष्पिका सवत् १५६१ में लिखी गई और वास्तव में इसमें कोई जाल नहीं है। लिखावट को देखते ही कोई भी कह देगा कि इसमें दुराव अथवा मूल से मिलाने का कोई प्रयत्न नहीं है। होता भी क्यों? इसकी आवश्यकता ही क्या थी और क्या कहीं यह भी दिखाया गया है कि क्यों यह लिखावट उस समय की नहीं हो सकती। हमारी अपनी धारणा तो यह है कि इसमें यों ही कोई जाल मानना ठीक नहीं है। बहुत पहले इस प्रकार के जाल होते भी नहीं थे और यदि होते भी थे तो और ही दृष्टा के। आजकल की बात ही और है।

श्री कबीर जी की वाणी का संग्रह कब हुआ इससे यह प्रकट नहीं होता किन्तु इतना तो व्यक्त ही है कि इसका संग्रह सवत् १५६१ तक हो गया होगा। इस संग्रह के द्वारा श्री रामराम प्रचार की आवश्यकता यों पड़ी कि अब संभवतः स्वयं कबीर जी नहीं रहे और उनके अभाव में उनकी वाणी ही लोगों की पथ प्रदर्शिका बनी। और इसका संग्रह बहुत कुछ उसी प्रेरणा से हुआ जिस प्रेरणा से श्री गुरु-ग्रन्थ साहिब का निर्माण। अस्तु, जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि इसकी लिखावट उस समय की लिखावट नहीं है तब तक हम इस जाल को, यदि किसी की दृष्टि में यह जाल है तो, जानी नहीं समझ सकते और न इस वाणी को अन्यथा ही मान सकते हैं।

'श्री कबीर जी की वाणी' में सबसे बड़ी भ्रष्टाचार की बात जो विद्वानों को

मिली है, वह है इसका पछाहीं रूप, और कबीरदास कहे जाते हैं पूरब के। यह विरोध उनकी दृष्टि में इतना प्रबल था कि उनकी बुद्धि किसी प्रकार इसका समझान नहीं कर पाती और जब यह संवत् १५६१ का पुष्पिकावाला जाल उनके सामने आया तो उनको कुछ संतोष हुआ। किन्तु क्या उसका यह अनुनासिक रूप और उसका यह पछाहींपन केवल किसी पछाहीं की करनूत का ही द्योतक है? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। पछाहीं भाषा अपभ्रंश के रूप में राष्ट्र-भाषा बन चुकी थी। कबीर के समय तक भी उसकी कहीं न कहीं थोड़ी बहुत रचना हो जाती थी। आजकल की नागरी और काशी के पंडितों की नागरी में जैसे कुछ भेद है और जैसा कुछ भेद है साधुओं की नागरी से उसे कोई भी सुन समझ सकता है। परन्तु आज जो नहीं समझा जा रहा है वह यह है कि आज लोगों के हृदय में यह बात जम चुकी है कि लोग अपनी अपनी जन्म-भाषा में ही रचना करते थे। अथवा उसीके द्वारा अपनी वाणी में दूसरे का कान पवित्र करते थे। पर इतिहास इसके प्रतिकूल है। भाषा-विकास के साथ साथ अपने वाङ्मय की भाषा पर ध्यान दें तो पता चले कि बहुत दिनों से देश-भाषा पर एक शिष्ट भाषा का शासन रहा है जो सदा लपित और लिखित रूपों में अन्य भाषाओं को प्रभावित करती रही है। कबीरदास की वाणी में भी यही बात रही होगी। आज कबीर की वाणी में जिन बातों को लेकर लोग उसे सर्वथा बनावटी सिद्ध करना चाहते हैं वही 'गूजरी' और 'दक्खिनी' की रचनाओं में भी मिल जाती हैं। स्मरण रहे, हमारा पक्ष यह नहीं है कि 'श्री कबीर जी की वाणी' में शब्दों का जो रूप है वही कबीर जी की वाणी का शुद्ध रूप है। हमारा कथन तो इतना ही है कि स्वभावतः कबीर जी की वाणी में कुछ पछाहीं पन रहा होगा—घरेलू काम-काज के लिए नहीं, समस्त देश में अपने राम के प्रचार के लिये ही। ये भी तो उनके राम ध्वन्यात्मक राम ही। साल्खी, शब्दी और रमैणा की भाषा में थोड़ा भेद है ही। फिर साल्खी में ही पछाहींपन सबसे अधिक, क्यों है? शब्दी और रमैणी में उतना क्यों नहीं? और करने की बात नहीं कि साल्खी कितना अपभ्रंश की मूल देन है। संभव है लिपिकर्ता अथवा उसके सामने की की प्रस्तुत सामग्री में

संग्रहकर्ता के कारण भी पलाहीपन अधिक आ गया हो। कारण कि पुष्पिका में यह पलाहीपन प्रकट बोल रहा है। सिद्धों और नाथों की वाणियों में भी तो यही रंग है, फिर कबीर की वाणी में ही हम क्यों बनारसीपन ढूँढ़ना चाहते हैं? उसको 'काशिका' की सीमा से बाहर क्यों नहीं ले जाना चाहते? अनुस्वार की अधिकता अनुनासिक अक्षरों को अनुनासिक बनाने तथा पास के अक्षर को अनुनासिक करने के कारण हो गई है। कौन जाने स्वयं कबीर की प्रवृत्ति भी ऐसी ही रही हो क्योंकि संस्कृत में अनुस्वार की प्रधानता है और साखी को 'सलोकु', के रूप में तो आप श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब में भी देख चुके हैं—यद्यपि वहाँ अनुस्वार का वैसाही अभाव है जैसी 'ग्रन्थावली' में भरमार। अपभ्रंश का जो भुक्ताव संस्कृत की ओर हो गया था वह अनुस्वार की प्रवृत्ति को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ। और कतिपय संतों ने तो इस अनुस्वार के बल पर 'श्लोक' भी रच डाला। 'घटरामायण' में ऐसे बहुत से श्लोक आज भी देखने को मिल जाते हैं। कहने का सारांश यह कि चलते-फिरते रमते योगियों की भाषा जैसी कुछ थी वैसी ही कबीर की भी आरम्भ में तो अवश्य रही होगी। कबीर की भाषा में पंजाबी, राजस्थानी, वज और पूरबी के प्रयोग ही नहीं मिलते, खड़ी बोली के रूप भी उसमें बहुत से हैं। कहीं कहीं तो वह आजकल की भाषा सी प्रतीत होती है। इसका कारण यह नहीं है कि वह प्रक्षिप्त है, ? प्रत्युत यह है कि खड़ी बोली भी उस समय उसी प्रकार वर्तमान थी जैसे कि इतर बोलियाँ। सारांश यह है कि कबीर की भाषा अपने समय के समस्त आर्यावर्त की भाषा को समेट कर चलती है और सबमें प्रमुख उसी देश की भाषा रहती है जो किसी न किसी रूप में सदा से यहाँ की प्रचलित तथा शिष्ट भाषा रही है। कबीर की भाषा में टेढ़ा पूरबी को ढूँढ़ना और प्रचलित पश्चिमी से खार खाना भाषा के इतिहास से अनभिज्ञ होना ही है। भला कोई व्यक्ति यह बता सकता है कि इन संतों में किस संत की वाणी शुद्ध और खरी है। नहीं, संतों की वाणी सभी प्रकार से पंचों की वाणी है और उसका आदर भी सदा से पंचामृत के रूप में होता आया है। उसके सम्बंध में ठीक यही कहा जा सकता है कि—

दारु विचार कि करिय कोउ, वन्दिय मलय प्रसग ।

इसी को ठेठ में कहते हैं—‘घी का लड्डू टेढ़ो भला ।’

कबीर के विषय में अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यदि किसी को असन्तोष हो तो भी इतना तो सर्वमान्य है । कि कबीर का पाठन-पोषण मुसलमान घर में हुआ था । अतः उनके जीवन के विकास में भी हमें पहले उनके इसी रंग को देखना चाहिये । कबीर ने स्वयं कहा है—

‘तुरकी धरम बहुत हम खोजा,
बहु बजगार करे ए बोधा ॥
गाफिल गरब करे अधिकाई,
स्वारथ अरथि बधे ए गाई ॥
जाको दूध धाह करि पीजै,
ता माता कौ वध क्यूँ कीजै ॥
लहुरै थकै दुहि पीया खीरो,
ताका अहमक भखै सरीरो ॥
बेअकला अकलि न जानहीं,
भूले फिरै ए लोह ॥
दिल दरिया दीदार बिन,
भिस्त कहाँ थे होइ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २३९ ।

कह नहीं सकते कि कबीर की इस गवाही—‘तुरकी धरम बहुत हम खोजा’ को देखते हुये भी जो लोग आग्रह के साथ कहते हैं कि कबीर को इस्लाम का बहुत ऊपरी ज्ञान था वे सचमुच कहना क्या चाहते हैं । कबीर कुछ और भी तो कहते हैं । सुनिये—

मीयां तुम्ह सौ बोल्या बणि नहाँ आवै ।
हम मसकीन खुदाई बंदे,
तुम्हरा जस मनि भावै ॥ टेक ॥

अलह अवलि दीन का साहिब,
 जोर नहीं फुरमाया ॥
 मुरिसद पीर तुम्हारै है को,
 कहौ कहाँ थैं आया ॥
 रोजा करै निवाज गुजारै,
 कलमै भिसत न होई ॥
 सतरि काबे इक दिल भीतरि,
 जे करि जानै कोई ॥
 खसम पिछानि तरस करि जिय मै,
 माल मनीं करि फीकी ॥
 आपा जानि साईं कूं जानै,
 तब है भिस्त सरीकी ॥
 माटी एक भेष धरि नांनां,
 सब मै ब्रह्म समाना ॥
 कहै कबीर भिस्त छिटकाई,
 दोजग ही मन माना ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २५५ ।

कबीर ने इसमें अपनी ओर से जो कुछ कहा है उसको अभी अलग रखिये और देखिये यह कि कबीर को जो बात इस्लाम में सबसे अधिक खटकती है वह है हिंसा । कबीर को सब पूछिये तो सबसे अधिक चिढ़ इसी हिंसा अथवा जीव-वध से है । कबीर का कहना तो अहिंसा के पक्ष में यहाँ तक है कि आप बड़ी दृढ़ता के साथ कह जाते हैं कि—

कबीर चाल्या जाइ या,
 आगैं मिल्या खुदाइ ।
 मीरां मुससौं यों कह्या,
 किनि फुरमाई गाइ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ५२ ।

गो-वध के लिये कहीं कुरान में अल्लाह ने आज्ञा नहीं दी है यही कबीर का पक्ष है। कबीर भली भौति इस तथ्य को जानते हैं और इसीसे 'मीरां' को ललकारते भी हैं। मुल्ला साहब से भ यही कहते दिखाई देते हैं।

मुला करि ल्यौ न्याव खुदाई ।

इहि विधि जीव का भरम न जाई ॥ टेक ॥

सरजी आनै देह बिनासै,

माटी बिसमल कीता ।

जोति सरूपी हाथि न आया,

कहौ हलाल क्या कीता ॥

बेद कतेब कहौ क्युं झूठा,

झूठा जो नि विचारै ।

सब घटि एक एक करि जानै,

भी दूजा करि मारै ॥

कुकड़ी मारै बकरी मारै,

हक हक करि बोलै ।

सबै जीव साई के प्यारे,

उबरहुगो किस बोलै ॥

दिल नहीं पाक पाक नहीं चीन्हां,

उसदा खोज न जानां ।

कहै कबीर भिसति छिटकाई,

दोजग ही मन मानां ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०८ ।

कबीर ने कुछ समझ बूझ कर ही इतना कहने का साहस किया है कि 'वेद ग्रन्थ को झूठा क्यों कहते हो ? झूठा वह जो उस पर विचार नहीं करता। बात यह है कि कुरान की मान्यता है कि जिस देश में जो पैगम्बर गया वहाँ की भाषा में उसने वहाँ के लोगों को उपदेश दिया। इसीके आधार पर कबीर यह फटकार

बताते हैं और यह दृढ़ता के साथ इनके हृदय में जमा देना चाहते हैं कि वेद को भी कुछ जानना-मानना चाहिये, और हृदय से कुरता का भाव निकाल कर समदर्शिता से काम लेना चाहिये। कबीर और भी खुले रूप में काजी के सामने आते हैं और डके की चोट पर कह जाते हैं—

काजी कौन कतेब बघानैं ।

पढ़त पढ़त केते दिन बीते,

गति एकै नहि जानैं ॥ टेक ॥

सकति से नेह पकरि करि सुनति,

यहु न बडू रे भाई ।

जौरे पुदाई तुरक मोहि करता,

तौ आपै कटि किन जाई ॥

हौ तौ तुरक क्रिया करि सुनति,

औरति सौ क्या कहिये ।

अरध सरीरी नार न छूटै,

आधा हिंदू रहिये ॥

छाड़ि कतेब राम कहि काजी,

खून करत हौ भारी ।

पकरी टेक कबीर भगति की,

काजी रहे क्षण मारी ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०७ ।

कबीर के समय में औरत की सुन्नत होती थी अथवा नहीं इसका हमें ठीक ठीक पता नहीं। कबीर की साखी से तो प्रतीत होता है कि नहीं होती थी। आज यह सुन्नत इस देश के एक सम्प्रदाय में होती है। और प्रायः सबमें कही भी जाती है मुसलमानी। कबीर को इसमें भी अत्याचार ही दिखाई देता है। कबीर इस मुसलमानी खूनी प्रवृत्ति से इतने ऊब उठे हैं कि अब उनकी 'किताब' में भ्रष्टा नहीं रही। अब वह सर्वथा राम के हो रहे और बस भक्ति की टेक पकड़ ली और

काजी अपना सा मुँह लेकर रह गया। परिणाम क्या हुआ, यह पहले ही देखा जा चुका है। कबीर पक्के भक्त बन गये। किन्तु सहसा नहीं, धीरे धीरे अपनी साधना के आधार पर। कबीर की साधना किस ढंग की थी। इसकी मीमांसा में उतरने के पहले यह जान लेना चाहिये कि उनके हृदय में श्रद्धा किनके प्रति थी। भाग्यवश यह कबीर के पद से आप ही व्यक्त हो जाता है—

सब मदिमाते कोई न जाग,
 तार्थे सग ही चोर घर मुसन लाग ॥ टेक ॥
 पंडित माते पढि पुरांन,
 जोगी माते धरि धियान ॥
 संन्यासी माते अहंमेव,
 तपा जु माते तप के मेव ॥
 जागे सुक उधव अकूर,
 हणवत जागे लै लमूर ॥
 संकर जागे चरन सेव,
 कलि जागे नांमां जै देव ॥
 ए अभिमान सब मन के कांम,
 ए अभिमान नहीं रही ठाम ॥
 आतमां राम कौ मन विश्राम,
 कहि कबीर भजि राम नांम ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २१६।

कबीर ने इस पद में जो 'जोगी माते धरि धियान' का नाम लिया है वह कुछ आश्चर्य की दृष्टि से देखा जा सकता है। इसमें जिन वैष्णवों का नाम लिया गया है उनके प्रति कबीर की भावना कभी क्या थी, तनिक इसे भी जान लें—

ता मन कौ खोजहु रे भाई,
 तन छूटे मन कहाँ समाई ॥ टेक ॥
 सनक सनंदन जै देवनांमा,
 भगति करी मन उनहुँ न जानां ॥

सिख बिरंचि नारद मुनि ग्यानी,
 मन की गति उनहुं नहीं जानी ॥
 धू प्रहिलाद बभीषन सेषा,
 तन भीतरि मन उनहुं न देषा ॥
 ता मन का कोइ जानै मेव,
 रंचक लीन भया सुषदेव ॥
 गोरष भरथरी गोपीचंदा,
 ता मन सौं मिलि करै अनंदा ॥
 अकल निरंजन सकल सरीरा,
 ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १९१।

भक्तों ने भक्ति तो की पर मन की गति उन्हें नहीं मिली। मन के ज्ञाता तो गोरख, भरथरी, गोपीचन्द आदि ही हुये। कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

मन गोरख मन गोविंदौ,
 मन ही औषध होइ ।
 जे मन राखै जतन करि,
 तौ आपै करता सोइ ॥

—वही, पृ० २९।

जिस मन को कबीर ने इतना महत्व दिया है उसकी साधना भी तो कुछ शिष्ट ही होनी चाहिये। कबीर इसे भी आप ही कह जाते हैं :—

मन के मोहन बीठुला,
 यहु मन लागौ तोहि रे ।
 चरन कंवल मन मानियां,
 और न भावै मोहि रे ॥ टेक ॥
 षट दल कवल निवासिया,
 चहु कौं फेरि मिलाइ रे ।

दहं कै बीच समाधिया,
 तहा काल न पासै आइ रे ॥
 अष्ट कंवल दल भीतरा,
 तहा श्रारंग केलि कराइ रे ।
 सतगुर मिलै तो पाइये,
 नहीं तौ जन्म अक्यारथ जाइ रे ॥
 कदली कुसम दल भीतरा,
 तहा दस आगुल का बीच रे ।
 तहा दुवादस खोजि ले,
 जनम हात नहीं मीच रे ॥
 बक नालि के अतरै,
 पछिम दिसा की वाट ।
 नीझर झरै रस पीजिये,
 तहा भँवर गुफा के घाट रे ॥
 त्रिवेणी मनाइ न्दवाइए,
 सुरति मिलै जौ हाथि रे ।
 तहा न फिरि मघ जोइये,
 सनकादक मिलि हैं साथि रे ॥
 गगन गरजि मघ जोइये,
 तहां दीसै तार अनंत रे ।
 बिजुरी चमकि धन बरषिहै,
 तहां भाजत हैं सब संत रे ॥
 षोडस कंवल जब चेतिया,
 तब मिलि गए श्रीबनवारि रे ।
 जुरामरण भ्रम भाजिया,
 पुनरपि जनम निवारि रे ॥

गुर गमि तैं पाईये,
 झंषि मरे जिनि कोइ रे ।
 तहीं कबीरा रमि रह्या,
 सहज समाधी सोइ रे ॥

—वही, पृ० ८८ ।

कबीर का रम्य लोक कहाँ है, वहाँ तक जाने का मार्ग क्या है, और इस यात्रा में किस चट्टी पर किसका दर्शन होता है आदि प्रश्नों का समाधान यहीं मिल जाता है और यहीं यह भी विदित हो जाता है कि कबीर की साधना वास्तव में तान्त्रिक वैष्णव-साधना थी, वैदिक भागवत-साधना नहीं । यहाँ जो ध्यान के रूपों का निर्देश हुआ है वह इसे तान्त्रिक बौद्ध-साधना से सर्वथा बिलगा देता है और यह भी निश्चित कर देता है कि कबीर राम का लेकर उठे थे, गून्व का लेकर नहीं । कबीर का अभिमत है—

‘एक जुगति एकै मिलै,
 किंवा जोग कि भोग ।
 इन दून्यूं फल पाइये,
 राम नाम सिधि जोग रे ॥
 प्रेम भगति ऐसी कीजिये,
 मुख अमृत वरिषै चद ।
 आप ही आप बिचारिये,
 तब केता होइ अनद रे ॥
 तुम्ह जिनि जानो गीत है,
 यहु निज ब्रह्म बिचार ।
 केवल कहि समझाइया,
 आतम साधन सार रे ॥
 चरन कवल चित लाइये,
 राम नाम गुन गाइ ।

कहे कबीर संसा नहीं,

भगति मुक्ति गति पाइ रे ॥

—वही, पृ० ८९।

कबीर ने भक्ति और मुक्ति दोनों को एक ही साधना में कैसे समेट लिया इसकी विधि तो मिला गई और यह भी हमने जान लिया कि कबीर क्यों अपने आपको वैष्णव नहीं तो वैष्णव का साथी अवश्य कहते हैं। अब थोड़ी इसकी भी जिज्ञासा होनी चाहिये कि गोरखनाथ से इनका लगाव क्या था? गोरखनाथ को कबीर हरि-भक्त भी मानते थे। कहते हैं—

‘कामणि अंग बिरक्त भया,

रत भया हरि नांइ।

साखी गोरखनाथ श्रुं,

अमर भये कवि माहि ॥’

गोरखनाथ के बारे में जो गोस्वामी तुलसीदास जी ने—

‘गोरख जगायो जोग, भगति भगायो भोग’

लिख दिया उसका रहस्य क्या है, इसका विचार तो फिर कभी होगा। कबीर की साखी से अभी इतना तो मान ही लेना चाहिये कि गोरख कोरे हठयोगी ही नहीं थे। नहीं, हरिनाम में भी उनकी पूरी रुचि थी। उनका इष्ट क्या था और उनकी साधना किस ढंग की थी इसका आभास इस पद से हो जाता है—

ऊँ नमो सिवाइ बाबू ऊँ नमो सिवाइ।

अह निसि बाइ मंत्र कौणें रे उपाइ ॥

भ्यंने भ्यंने अघ्यरे जे देवै रे बुझाइ,

ताका मैं चेला बाबू सो गुरू हमार ॥ टेक ॥

ऊँकार आछै बाबू मूल मंत्र धारा,

ऊँकार व्यापीले सकल संसारा।

ऊँकार नाभी हृदै देव गुर सोई,

ऊँकार साधे बिना सिधि न होई ॥ १ ॥

नादै लीन ब्रह्मा नादै लीना नर हरि,
नादै लीना ऊमापती जोग ल्यौ घरि घरि ।
नाद ही तौ आछै बाबू सब किछू निषांनां,
नाद ही यै पाइये परम निरबांनां ॥ २ ॥

बाई बाजै बाई गाजै बाई धुनि करै,
बाई षट चक्र बेधै अरधै उरधै मधि फिरै ।
सोहं बाई हंसा रूपी प्यंडै प्यंडै बहै,
बाई कै प्रसादि व्यंद मुरमुष रहै ॥ ३ ॥

मन मारै मन मरै मन तारै मन तिरै ,
मन जै अस्थिर होइ तृभुवन भरै ।
मन आदि मन अंत मन मधे सार ,
मन ही तैं छूटै बाबू बिषै विकार ॥ ४ ॥

सक्ति रूपी रज आछै सिव रूपी व्यंद ,
बारह कला रव आछै सोलह कला चंद ।
चारि कला रवि की जो ससि घर आवै ,
तौ सिव सक्ती संमि होवै, अन्त कोई न पावै ॥ ५ ॥

एही राजा राम आछै सर्वे अंगे वासा ,
ये ही पाँचौं तत बाबू सहजि प्रकासा ।
ये ही पाँचौ तत बाबू समझि समानां ,
वदंत गोरष इम हरि पद जानां ॥ ६ ॥ १२ ॥

—गोरखबानी, पृ० ९८ ।

गोरखनाथ की इस 'बानी' में जहाँ 'इमि हरि पद जानां' का विधान है वहीं 'एही राजा राम आछै सर्वे अंगे वासा' का निनाद भी, इससे इतना तो सिद्ध ही है कि गोरख भी राम के भक्त थे और इस नाम की उपासना भा करते थे । इतना होने पर भी कबीर अपने आपको गोरख का अनुयायी नहीं मानते । कारण कदाचित्

यह बताना चाहते हैं कि गोरख में वह उदारता नहीं जो कि भक्त में होनी चाहिये। कहते हैं —

जोगी गोरख गोरख करै,
हिंदू राम नाम उच्चरै ॥

मुसलमान कहै एक खुदाइ,
कबीराको स्वामी घटि-घटि रह्यो समाइ।

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २००।

कबीर ने जो यह कहा है कि 'जोगी गोरख गोरख करै' वही कबीर के अलग होने का कारण है। नाथ-परम्परा से परिचित कोई भी व्यक्ति तुरत कह सकता है कि कबीर गोरख के ऋणी ही नहीं, उन्हीं की पद्धति पर आगे बढ़ने वाले जीव हैं। फिर भी कबीर अपने को सदा गोरख से अलग ही बताते हैं। कारण प्रत्यक्ष है। कबीर किसी भी दशा में अपने इष्टदेव के अतिरिक्त किसी को कहीं भी नहीं मान सकते। और यह सह नहीं सकते कि निर्गुण राम और कबीर के बीच में कहीं कोई और भी हो। नाथ-संप्रदाय की मान्यता क्या थी इसे सामने रख कर देखा जाय तो कबीर की स्थिति आव ही प्रत्यक्ष हो जाती है। नाथ-संप्रदाय का कहना है—

‘आदिनाथो गोरक्षनाथश्चांशशिभावेन वा स्वयमेक एव परन्तु व्यवहारार्थम-
झाङ्गिभावेन सेव्यसेवकभावेन नाथात्मकमेव मंगलं कृतम्।’

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० ७४।

साथ ही इतना और भी जान लें कि—

‘वामभागे स्थितः शम्भुर्यो निर्गुणस्य ब्रह्मणोऽशरूपः साकारतया संसारकल्या-
णार्थं जातः स शिवो वामभागे। सव्ये विष्णुस्तथैव च। याऽद्भुता निजा इच्छा-
शक्तिस्तस्या अंशेन जाताः। साकारः स विष्णुः संसारप्रवृत्त्यर्थं यस्य सव्यभागे।
पुनः, मध्यभागे स्वयं पूर्णो निर्गुणसगुणातीतसर्वशिरोमणिर्नाथस्तस्य यः साकाररूपो
नाथो मध्यभागे स नाथो ज्योतीरूपो मम हृदयान्धकारनिवर्तनं करोतु।’

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० ७४।

गोरक्षसिद्धान्त कबीर को मान्य नहीं । कारण कि, उसमें गोरक्ष की भी बहुत कुछ वही स्थिति हो जाती है जो भक्तों में राम वा कृष्ण की है । कबीर बाह्य बातों के खंडन-मंडन और तर्क वितर्क के साथ ही साधना की पद्धति में भी गोरक्ष के साथ हैं । शेष बातों में नहीं । कबीर की भावना और कबीर का सिद्धान्त गोरक्ष से सर्वथा भिन्न है । कबीर भी द्वैताद्वैत विलक्षण किंवा द्वैताद्वैत विवर्जित राम को अपना इष्ट बताते हैं और अनेक पदों में उनके लोक कल्याणी रूप का निदर्शन भी कर जाते हैं । पर भावना के क्षेत्र में ही ऐसा करते हैं । कभी खुल कर इसका प्रतिपादन नहीं करते । उनकी टेक है—

‘नहीं छाड़ौ बाबा राम नांम,
मोहि और पदन सूकौन कांम ॥ टेक ॥
प्रह्लाद पधारे पढन साल,
संग सखा लीयें बहुत बाल ॥
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल,
मेरी पाटी मैं लिखि दे श्री गोपाल ॥
तब संनां मुरकां कह्यौ जाइ,
प्रह्लाद बैघायौ बेगि आइ ॥
तूं राम कहन की छाड़ि बांनि,
बेगि छुड़ाऊं मेरौ कह्यौ मांनि ॥
मोहि कहा डरावै बार बार ,
जिन जल थल गिर कौ कियौ प्रहार ॥
बांधि मारि भावै देह जारि,
जे हूं राम छाड़ौ तौ मेरे गुरहि गारि ॥
तब काढ़ि खड्ग कोप्यौ रिसाइ,
तोहि राखनहारौ मोहि बताइ ॥
खंभा मैं प्रगट्यौ गिलारि,
हरनाकस मार्यौ नख बिदारि ॥

महापुरुष देवाधिदेव,
नरस्यंघ प्रगट कियौ भगति भेव ॥
कहे कबीर कोई लहे न पार,
प्रहिलाद ऊबारयौ अनेक बार ॥ ३७९ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २१४ ।

कबीर के इस भाव को देख कर कोई कह नहीं सकता कि कबीर अवतारवादी नहीं थे । कबीर अन्यत्र भी कहते हैं—

मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई ।
जा दिन तेरो कोई नाहीं, ता दिन राम सहाई ॥ टेक ॥
तंत न जानूं मंत न जानूं,
जानूं सुंदर काया ।
मीर मलिक छत्रपति राजा,
ते भी खाये माया ॥
बेद न जानूं भेद न जानूं,
जानूं एकहि रामां ।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हां,
मुख कीन्हों जित नामां ॥
राजा अंबरीक कै कारणि,
चक्र सुदरसन जारै ।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो,
भगत की सरन ऊबारै ॥ १२२ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १२७ ।

हाँ, कबीर ने अपने जिस 'ठाकुर' का उल्लेख किया है वह ठाकुर अन्य नहीं, भक्तों का चिर-परिचित उनके उद्धार के लिये अवतारधारी अवतारी भगवान् ही है । और यही क्यों ? कबीर यह भी तो उमँग कर कहते हैं—

मेरी जिम्मा बिस्व नैन नाराइन,
 हरिदै जपौ गोबिंदा ।
 जन्म दुवार जब लेख मांग्या,
 तब का कहिसि मुकंदा ॥ टेक ॥
 तूं बाह्यण मैं कासी का जुलाहा,
 चीन्हि न मोर गियाना ।
 तैं सब मागे भूपति राजा,
 मोरे राम बियाना ॥
 पूरब जनम हम बाह्यन होते,
 बोले करम तप हीनां ।
 रामदेव की सेवा चूका,
 पकरि जुलाहा कीन्हां ॥
 नौमी नेम दसमी करि संजम,
 एकादसी जागरणां ।
 द्वादसी दांन पुनि की बेळां,
 सर्व पाप छयौ करणा ॥
 भौ बूझत कछू उपाइ करीजै,
 ज्यूं तिरि लंघै तीरा ।
 राम नाम लिखि भेरा बांधौ,
 कहे उपदेश कबीरा ॥ २५० ॥

—वही, पृ० १७३ ।

कबीर का यह उपदेश भागवतों के तनिक भी प्रतिकूल नहीं दिखाई देता ।
 फिर भी कबीर भागवत नहीं । आश्चर्य तो यह है कि कबीर और भी आगे बढ़ते
 हैं और अपनी भक्ति का भाव भी ठीक ठीक बता जाते हैं । कहते हैं—

कैसें तूं हरि कौ दास कहायौ,
 करि बहु भेषर जनम गंवायौ ॥ टेक ॥

महापुरुष देवाधिदेव,
नरस्यघ प्रगट कियौ भगति मेव ॥

कहे कबीर कोई लहे न पार,
प्रहिलाद ऊबार्यौ अनेक बार ॥ ३७९ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २१४ ।

कबीर के इस भाव को देख कर कोई कह नहीं सकता कि कबीर अवतारवादी नहीं थे । कबीर अन्यत्र भी कहते हैं—

मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई ।
जा दिन तेरो कोई नाहीं, ता दिन राम सहाई ॥ टेक ॥

तत न जान् मत न जान्,
जान् सुंदर काया ।

मीर मलिक छत्रपति राजा,
ते भी खाये माया ॥

बेद न जान् भेद न जान्,
जान् एकहि रामा ।

पडित दिसि पछिवारा कीन्हा,
मुख कीन्हौ जित नामां ॥

राजा अबरीक कै कारणि,
चक्र सुदरसन जारै ।

दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ,
भगत की सरन ऊबारै ॥ १२२ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १२७ ।

हाँ, कबीर ने अपने जिस 'ठाकुर' का उल्लेख किया है वह ठाकुर अन्य नहीं, भक्तों का चिर-परिचित उनके उद्धार के लिये अवतारधारी अवतारी भगवान् ही है । और यही क्यों ! कबीर यह भी तो उमँग कर कहते हैं—

मेरी जिभ्या बिस्न नैन नारांहन,
 हिरदैँ जपौ गोबिंदा ।
 जम दुवार जब लेख मांग्या,
 तब का कहिसि मुकदा ॥ टेक ॥
 तू बाहण मै कासी का जुलाहा,
 चीन्हि न मोर गयाना ।
 तैं सब मागे भूपति राजा,
 मोरे राम धियाना ॥
 पूरब जनम हम बाहान होते,
 बोले करम तप हीना ।
 रामदेव की मेवा घूका,
 पकर जुलाहा कीन्हा ॥
 नौमी नेम दसमी करि सजम,
 एकादसी जागरणा ।
 द्वादसी दान पुनि की बेठा,
 सब पाप छयौ करणा ॥
 भौ बूझत कछु उपाह करीजै,
 जूं तिरि लघै तीरा ।
 राम नाम लिखि भेरा बाधौ,
 कहे उपदेश कबीरा ॥ २५० ॥

—वही, पृ० १७३ ।

कबीर का यह उपदेश भागवतों के तनिक भी प्रतिकूल नहीं दिखाई देता । फिर भी कबीर भागवत नहीं । आश्चर्य तो यह है कि कबीर और भी आगे बढ़ते हैं और अपनी भक्ति का भाव भी ठीक ठीक बता जाते हैं । कहते हैं—

कैसे तू हरि कौ दास कहायौ,
 करि बहु भेषर जनम गंवायौ ॥ टेक ॥

सुध बुध होइ भयौ नहि साई,
 काछयौ उचंभ उदर कै ताई ॥
 हिरदै कपट हरि सुं नहीं साचौ,
 कहा भयौ जे अनइद नाच्यौ ॥
 भूटे फोकट कलू मंझारा,
 राम कहै ते दास नियारा ॥
 भगति नारदी मगन सरीरा,
 इहि विधि भव तिरि कहै कर्बाग ॥ २७८ ॥

—वही, पृ० १८२ ।

कबीर ने भवसागर पार करने की जो विधि बताई है वह है 'नारदी भक्ति' तो न्या, सच्चमुच्च कबीर नारद के अनुयायी थे । निवेदन है; हाँ नहीं—नहीं हाँ । कारण यह कि भाव के क्षेत्र में कबीर नारद के अनुयायी हैं । विचार के क्षेत्र में उनके अनुयायी नहीं, विरोधी हैं और विरोध करते हैं उनके अवतारवाद का । उनका सहज उद्घोष है—

नां जसरथ धरि औतरि आवा,
 नां लंका का राव संतावा ॥
 देवै कूख न औतरि आवा,
 नां जसवै ले गोद खिलावा ॥
 ना वो ग्वालन कै संग फिरिया,
 गोबरधन ले न कर धरिया ॥
 बाँवन होय नहीं बलि छलिया,
 धरनी बेद लेन उधरिया ॥
 गंडक सालिग राम न कोला,
 मछमछ हूँ जलहि न डोला ॥
 बद्री बैस्य ध्यान नहीं लावा,
 परसराम हूँ खत्री न संतावा ॥

द्वारामती सरीर न छावा,
जगननाथ लेप्यंड न गावा ॥
कहे कबीर विचारि करि,
ये ऊले व्योहार ॥
याही थैं जे अगम है,
सो बरति रह्या संसारि ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४३ ।

कबीर ने जो व्यवहार की चर्चा छेब दी है वह विचारणीय है और विचारणीय है उनका यह कथन भी । कबीर अवतार को नहीं मानते, पर बात अवतार की ही कह जाते हैं । यहाँ अवतार का खंडन किया गया है और उसे व्यवहार के रूप में व्यक्त किया गया है । कबीर ने 'वेद कतेब कथैं व्यवहार' की घोषणा अन्यत्र भी की है । इसे व्यवहार मान लेने में कोई विशेष अब्धन तो तत्र नहीं होती जब कबीर वेदान्तियों की भाँति 'परमार्थ' और 'व्योहार' को मानते । परन्तु कबीर वेदान्ती नहीं, वेदान्त से परे हैं । तो क्या इसका भी कुछ रहस्य है ? हमारी दृष्टि में कबीर का यह 'व्योहार' नाथ-संप्रदाय की देन है कुछ वेदान्त का प्रसाद नहीं ।

कबीर का जो रूप सामने आया है वह कुछ विलक्षण सा बना रह जाता है । उसको सुलझाने की चेष्टा तब तक व्यर्थ जायगी जबतक हम कबीर को अपने घर की पूँजी से परखते रहेंगे । कबीर ने जो प्रसंगवश 'जानूं सुंदर काया' का निर्देश कर दिया है वह कुछ अर्थ रखता है । उसका संकेत है सूफियों की रूप-उपासना की ओर । सूफी किस प्रकार हुस्न-मजाज़ी के द्वारा हुस्न-इकीकी का साक्षात्कार करते हैं इसको तो सभी लोग जानते हैं । पर यदि नहीं जानते तो यही कि कबीर भी इसी रूपके उपासक थे । यही क्यों ? कबीर ने जो अवतार को लिया तो है पर माना नहीं, उसका भी रहस्य यहीं खुलता है । कबीर यह नहीं मानते कि परब्रह्म, निरंजन, अथवा उनका 'राम' अवतार लेता है, पर यह मानते हैं कि वह समय समय पर उपाधि धारण कर सकता है यह और कुछ नहीं जीलानी की उपाधि

सुध बुध होइ भयौ नहि साई,
 काछयौ उचंभ उदर कै ताई ॥
 हिरदै कपट हरि सुं नहीं साचौ,
 कहा भयौ जे अनइद नाच्यौ ॥
 भूटे फोकट कलू मंझारा,
 राम कहै ते दास नियारा ॥
 भगति नारदी मगन सरीरा,
 इहि विधि भव तिरि कहै कर्बाग ॥ २७८ ॥

—वही, पृ० १८२ ।

कबीर ने भवसागर पार करने की जो विधि बताई है वह है 'नारदी भक्ति' तो न्या, सच्चमुच्च कबीर नारद के अनुयायी थे । निवेदन है; हाँ नहीं—नहीं हाँ । कारण यह कि भाव के क्षेत्र में कबीर नारद के अनुयायी हैं । विचार के क्षेत्र में उनके अनुयायी नहीं, विरोधी हैं और विरोध करते हैं उनके अवतारवाद का । उनका सहज उद्घोष है—

नां जसरथ धरि औतरि आवा,
 नां लंका का राव संतावा ॥
 देवै कूख न औतरि आवा,
 नां जसवै ले गोद खिलावा ॥
 ना वो ग्वालन कै संग फिरिया,
 गोबरधन ले न कर धरिया ॥
 बाँवन होय नहीं बलि छलिया,
 धरनी बेद लेन उधरिया ॥
 गंडक सालिग राम न कोला,
 मछमछ हूँ जलहि न डोला ॥
 बद्री बैस्य ध्यान नहीं लावा,
 परसराम हूँ खत्री न संतावा ॥

द्वारामती सरीर न छावा,
जगननाथ लेप्यंड न गावा ॥
कहे कबीर विचारि करि,
ये ऊले व्योहार ॥
याही यैं जे अगम है,
सो बरति रह्या संसारि ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४३ ।

कबीर ने जो व्यवहार की चर्चा छेब दी है वह विचारणीय है और विचारणीय है उनका यह कथन भी । कबीर अवतार को नहीं मानते, पर बात अवतार की ही कह जाते हैं । यहाँ अवतार का खंडन किया गया है और उसे व्यवहार के रूप में व्यक्त किया गया है । कबीर ने 'वेद कतेब कथैं व्यवहार' की घोषणा अन्यत्र भी की है । इसे व्यवहार मान लेने में कोई विशेष अब्बचन तो तब नहीं होती जब कबीर वेदान्तियों की भाँति 'परमार्थ' और 'व्योहार' को मानते । परन्तु कबीर वेदान्ती नहीं, वेदान्त से परे हैं । तो क्या इसका भी कुछ रहस्य है ? हमारी दृष्टि में कबीर का यह 'व्योहार' नाथ-संप्रदाय की देन है कुछ वेदान्त का प्रसाद नहीं ।

कबीर का जो रूप सामने आया है वह कुछ विलक्षण सा बना रह जाता है । उसको सुलझाने की चेष्टा तब तक व्यर्थ जायगी जबतक हम कबीर को अपने घर की पूँजी से परखते रहेंगे । कबीर ने जो प्रसंगवश 'जानूं सुंदर काया' का निर्देश कर दिया है वह कुछ अर्थ रखता है । उसका संकेत है सूफियों की रूप-उपासना की ओर । सूफी किस प्रकार हुस्न-मजाज़ी के द्वारा हुस्न-इकीकी का साक्षात्कार करते हैं इसको तो सभी लोग जानते हैं । पर यदि नहीं जानते तो यही कि कबीर भी इसी रूपके उपासक थे । यही क्यों ? कबीर ने जो अवतार को लिया तो है पर माना नहीं, उसका भी रहस्य यहीं खुलता है । कबीर यह नहीं मानते कि परब्रह्म, निरंजन, अथवा उनका 'राम' अवतार लेता है, पर यह मानते हैं कि वह समय समय पर उपाधि धारण कर सकता है यह और कुछ नहीं जीलानी की उपाधि

(लिबास) वाद है । कहते हैं वह कभी काशी में रहा भी था और सन् १३८८ ई० में यहाँ विद्यमान था । जो हो, कबीर का अध्ययन कुछ इसलामी वेदान्त अथवा तसव्वुफ की ओर से भी होना चाहिये ।

अब नारदी भक्ति को लीजिये ? नारदी भक्ति का सच्चा स्वरूप है समर्पण, विस्मरण और व्याकुलता । कहने की बात नहीं कि कबीर में ये बातें हैं । कबीर को व्याकुलता ही नहीं होती उनका विश्वास भी है कि उनका दुःख यदि कोई जानता है तो केवल राम । राम के अतिरिक्त भक्त का दुःख और कोई जान नहीं सकता फिर किसी से कुछ कहना व्यर्थ है । किन्तु वह प्रेम ही न्या जो बुद्धि के बधन में पड़ा रहे और कातर होकर यह न बोल उठे—

‘बालहा आव हमारे मोह रे,

तुम्ह बिन दुखिया देह रे ॥ टेक ॥

सबको कहे तुम्हारी नारी,

मोकौ हहे अदेह रे ॥

एकमेक है सेज न सोवै,

तब लग कैसा नेह रे ।

आन न भावै नीद न आवै,

ग्रिह बन धरै न धीर रे ॥

ज्यू कार्मी कौ काम पियारा,

ज्यू प्यासे कूं नीर रे ॥

है कोई ऐसा पर उपगारी,

हरि सू कहे सुनाइ रे ॥

ऐसे हाल कबीर भये हैं,

बिन देखें जीव जाइ रे ॥ ३०७ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १९२ ।

भक्त की तक्षप व्यर्थ न गई । भगवान् का आना हुआ और उसकी वाणी फूट पड़ी—

'दुलहनी गावहु मंगल चार,
 हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥ टेक ॥
 तन रत करि मैं मन रत करिहूँ,
 पंचतत बराती ।
 रामदेव मोरे पाहुनँ आये,
 मैं जोवन मैमाती ॥
 सरीर सरोवर वेदी करिहूँ,
 ब्रह्मा बेद उचार ।
 रामदेव संगि भावरि लैहूँ,
 धनि धनि भाग हमार ॥
 सुर तेतीसुं कौतिग आये,
 मुनियर सहस अठयासी ।
 कहै कबीर हंस व्याहि चले है,
 पुरिष एक अविनासी ॥ १ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८७ ।

व्याह तो हुआ पर किसके किये ? अपने आप ? नहीं ।

'कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां,

सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा ॥ २ ॥ —वही ।

कबीर के इस सुहाग में टाँकने की बात यह है कि इसमें राम की कृपा ही सब कुछ है अपनी साधना कुछ भी नहीं । और गोरख के यहाँ साधना ही सब कुछ, कृपा कुछ भी नहीं । गोरख के राम या तो कृपण राम हैं अथवा सह-स्रार के निवासी राम । जो वास्तव में और कुछ नहीं सिद्धों की ज्योति के व्यक्त रूप निरंजन राम हैं । उनमें भाव के लिये स्थान नहीं, प्रसाद से उनका नाता नहीं । कबीर उस राम के उपासक नहीं, प्रेम के पथिक हैं जो मन की साधना के लिये जोग जगाते हैं कुछ भभूत रमाने के लिये नहीं । यही कबीर का गोरख से बिल्गव है और यही कबीर की महिमा का मुख्याश । कबीर गोरख

को लेकर आगे बढ़े, पर धीरे धीरे भाव भजन को लेकर इतना आगे बढ़ गये कि बाज बाबा गोरखनाथ बहुत पीछे छूट गये हैं और यदि समाज में कभी आते भी हैं तो 'गोरखधन्वा' 'जोगीबा' और 'कबीर' में ही ।

कबीर और जोगीबा की अश्लीलता जो आजकल समझ में नहीं आती उसका कारण यह है कि हम सहजयानियों का 'सधा' भाषा से अनभिज्ञ हैं और यह नहीं जानते कि किस प्रकार यहाँ के सिद्ध इसी ढंग से अपना अध्यात्म लोगों में जगाते और अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे । गोरख और कबीर ने जो उनकी प्रणाली ली तो 'कबीर' और 'जोगीबा' में भी वही प्रणाली आ गई । इसमें जो कबीर और गोरख का संकेत दिखाई देता है वह उनकी पवित्रता के कारण, किसी कल्पित आचरण के कारण कदापि नहीं । क्या कि यदि जो कुछ लगाकर गाया जाता है उसके यथार्थ होने की संभावना हो तो उससे हास्य का उदय नहीं हो सकता । हँसी के लिये आलम्बन का कुछ विलक्षण होना आवश्यक होता है । यही कारण है कि ऐसे अवसरों पर ब्रह्मा, विष्णु भी नहीं बचते और लाग चुन चुनकर दिव्य पुरुषों को अपनी अश्लीलता को लक्ष्य बनाते हैं । यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि जो कबीर ने ब्रह्मा, विष्णु को देटा दिखाया है वह भासिद्ध-प्रेरणा के कारण ही । वज्र यानी मूर्तियों में यह देखा जाता है कि वहाँ वज्रदेवता किसी ब्रह्मदेवता पर सवार हैं अथवा उनके अपने पैरों के नीचे दबाये हुये हैं । यही रूप किसी न किसी ढंग से कबीर में भी पाया जाता है । कबीर की वाणी में तो है ही । 'कबीर' और 'जोगीबा' को भी इसा परिपाटी का फल समझिये । 'कबीर' तो होली के दिनों में चारों ओर सुनाई देती है । 'जोगीबा' भी कहीं कहीं होता ही है और भाँष जब तब उसका उपयोग भी करते रहते हैं । फिर भी उसका प्रचार उतना नहीं जितना कबीर का । अच्छा होगा यहाँ 'जोगीबा' का मूल रूप भी 'गोरख-बानी' में ही देख लिया जाय । लीजिये—

मेरा गुरु तीनि छद् गावं,

ना जानौं गुर कहाँ गैला,

मुझ नीदही न आवै ॥ टेक ॥

कुम्हरा के घरि हांडी आछै,
 अहीरा के घर साडी ।
 वमना के घरि रांडी आछै,
 राडी साडी हाडी ॥ १ ॥
 राजा के घरि सेल आछै,
 जंगल मधे बेल ।
 तेली के घरि तेल भाछै,
 तेल बेल सेल ॥ २ ॥
 अहार के घरि महकी आछै,
 देवल मध्ये ल्यग ।
 हाथी मधे होंग आछै,
 हांग ल्यग स्यग ॥ ३ ॥
 एकै सुत्रे नाना वाणिवा,
 बहु भाति दिखलावै ।
 भगंत गोरषि त्रिगुणी माया,
 सत गुरु दोह लपावै ॥ ४ ॥ ४२ ॥

—गोरख-बानी, पृ० १३७ ।

कबीर की वाणी गोरख की वाणी से कितनी मिळती है इसे भी देख लें ।
 गोरख कहते हैं—

‘तत बेली लो तत बेली लो,
 अवधू गोरषनाथ जाणी ।
 डाळ न मूल पट्टप नही छाया,
 बिरषि करै बिन पांणी ॥ टेक ॥
 काया कुंजर तेरी बाकी अवधू,
 सत गुरु बेलि रूपाणी ।
 पुरिष पांणती करै धणियाणौ,

नीकै बाळि घरि आंणी ॥ १ ॥
 मूल एद्दा जेद्दा ससिहर अवधू,
 पांन एद्दा जेद्दा भाण ।
 फल एद्दा जेद्दा पूनिम चंदा,
 जोउ तोउ जाण सुजाण ॥ २ ॥
 बेळिया दौं लागी अवधू,
 गगन पहुंती झाला ।
 जिम जिम बेळी दाझवा लागी,
 तळ मेल्ले कूपन डाला ॥ ३ ॥
 काटत बेळी कूपल मेल्ली,
 सोचतबां कुमळाये ।
 मछिद्र प्रसादैं जती गोरष बोल्या,
 नित नबेल्ली थाये ॥ ४ ॥ १७ ॥
 —पृ० १०६ ।

उषर कबीर का मत है—

रांम गुन बेल्ली रे, अवधू गोरषनाथि जाणी ।
 नाति सरूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पाणी ॥ टेक ॥
 बेळिया दौं अणी पहुंती, गगन पहुंती सैली ।
 सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ली ॥
 मन कुंजर जाइ बाझी बिलंब्या, सतगुर वाही बेळी ।
 पंच सखी मिलि पवन पर्यप्या, बाझी पांणी मेल्ली ॥
 काटत बेळी कूपले मेल्ली, सीचताणी कुमिळाणी ।
 कहै कबीर ते बिरला जोगी, महज निरंतर जाणी ॥ १६२ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १४२ ।

प्रस्तुत दोनों पदों की तुलना से यह तो विदित हो गया होगा कि कबीर की साधना पर गोरख का कितना प्रभाव है। साथ ही इतना और भी देख लें कि कबीर की उलटी गोरख की सीधी देन है। गोरख का एक पद है—

‘नाथ बोलै अमृत बाणी, बरिपैगी कंबली भीजैगा पाणी ॥टेक॥
गाबि पडरवा बाधिलै घुंटा, चलै दमामां बाजिले ऊँठा ॥१॥
कउवा की डाली पीपल बासै, मसा के सबद बिलइया नासै ॥२॥
चले बटावा थाकी बाट, सोवै डुकरिया ठौरै पाट ॥३॥
ढूकिल कूकर भूकिले चोर, काटै वणी पुकारै ढोर ॥४॥
ऊजब घेबा नगर मझारी तलि गागरि ऊपर पनिहारी ॥५॥
मगरी परि घूल्हा धंधार, पोवणहारा कौं गोटी खाइ ॥६॥
कांमिनि जलै अगीठी तापै, बिचि वैमंदर थरहर कापै ॥७॥
एक जु रदिया रदती आई, बहू बिवाई सामू जाई ॥८॥
नगरी कौ पाणी कूई आवै, उलटी चरचा गोरप गावै ॥९॥

—पृ० १४१।

इस ‘सबरी’ को हाथ में ले अब कबीर की उलटी में संघि लगाइये और देखिये कि वस्तुतः कबीर का वेद क्या है ? मुनिये—

‘हे कोई जगत गुर ग्यानी, उलटि बेद बूझै ।
पांणी में अगनि जरै, अंधरै कौं सूझै ॥ टेक ॥
एकनि दादुरि खाये पंच भवंगा, गाइ नाहर खायौ काटि काटि अंगा ॥
बकरी बिघार खायौ, हरनि खायौ चीना ।
कागिल गर पांदिया, बटेरै बाज जीता ॥
मूसै मैंजार खायौ, स्याळि खायौ स्वाना ।
आदि कौं आदेश करत, कहै कबीर ग्यानां’ ॥ १६० ॥

—पृ० १४१।

कबीर ने इस क्षेत्र में गोरख का अनुसरण केवल एकांत-साधना, चित्त-वृत्ति-निरोध एवं स्वस्थ शरीर ही के लिये नहीं किया। नहीं, इसका लक्ष्य कुछ और

भी था। कौन नहीं जानता कि इष्टयोग की साधना, कुंडलिनी का जगाना खेल नहीं। सतत अभ्यास की वस्तु है और सो भी साध्य है किसी सद्गुरु के सन्चे आदेश के द्वारा ही। तो भी हम देखते क्या हैं कि इस गुह्य साधना का गल-नाद हो रहा है भोले-भाले समाज में। क्या इसका कुछ भी कारण नहीं है? क्या यह किसी का मस्त मौलापन है? क्या इसी को फक्कड़पन कहते हैं? नहीं, इसमें से एक भी नहीं। इसे या तो आप कोरी उद्धरिणी कहें या यह कि यह जनता को अपनी आर लींचने का गूढ़ मन्त्र है। इसके द्वारा जनता में जो उत्प्रेरणा उत्पन्न होगी, जो उत्कठा जगेगी, जो श्रद्धा वक्ता की ओर मूड़ेगी वह कुछ उद्देश्य-हीन उपेक्षा की वस्तु नहीं। यहाँ तो सिद्धों जोगियों और फलतः कबीर का भी वह मूल-मंत्र और अमोघ अस्त्र है जिसमें जनता उनकी मुट्ठी में आता और कान रोप कर उनकी अद्भुत वाणी को सुनती ही नहीं, उनको सर्वदर्शी मान भी लेती थी। कबीर का यह उल्टी साधना व्यक्तिगत रूप में इष्टयोग की साधना है किन्तु समष्टि रूप में अपन साँख रोपना भी है, कुछ साँखी का टिटोरा पीटना मात्र ही नहीं। अच्छा हुआ जो आगे चल कर सफियों और बहुत कुछ संतों ने भी इसे छोड़ ही दिया और भक्तों ने तो सर्वथा इसे टुकरा ही दिया।

कबीर के कूट-पटों और अद्भुत की पर्याप्त चर्चा हो चुकी। यह कबीर का काव्य नहीं। कबीर की कविता तो उनके मधुर पदों और सरस उपदेशों में है। जहाँ 'नाद' और 'विन्दु' के चक्कर में नहीं पड़े और अपनी सहज आकुलता को लेकर वाणी में फूट पड़े वहाँ उनका हृदय काव्य के रूप में बरस पड़ा और सारा जनपद लहलहा उठा। कबीर के उपदेश भी कुछ कम चाखे नहीं उतरे। व्यंग की तो बात ही क्या? फबतियाँ भी खूब कसा हैं। बाह्याडंबर की बज्जियाँ उड़ाने में चूकते ही नहीं। प्रीत होता है कि उनका बेचने के लिये हाँ वाणी मिली है। सब सही, किन्तु यह सही नहीं कि कबीर में कहाँ अहंकार नहीं था। या, और अवश्य था। परन्तु वह रह नहीं गया था, नारदी भक्ति की कृपा से, दीनबन्धु राम के प्रसाद से। कबीर में यह कहना कि काव्य नहीं है, काव्य का उपहास करना है किन्तु इष्टयोगी कबीर में काव्य टूटना मूढ़ नारना है। कबीर को कविता देखनी

हो तो उनके मधुर पदों को देखें । उनकी विरहिणी की पुकार को सुनें । उनकी 'दुलहिनि' के उल्लास को देखें । उनकी सती को सराहें और सब कुछ छोड़ कर देखें उनके प्रेम की अनन्यता को, जहाँ काजल के लिये कोई स्थान नहीं—

‘कबीर रेख सिंदूर की काजल दिया न जाय’ ।

साररूप में कहा चाहें तो कबीर का कहना यह है—

‘रे रे मन मोहि व्यौरि काहे, मै तत पृछौ तोहि ।
ससै सूल सबै भई, समझाई कहि मोहि ॥
मुनि इसा मैं कहूँ बिचारी, त्रिजग जोनि सबै अधियारी ॥
मनिषा जन्म उत्तिम जौ पावा, जानूँ राम तो सयान कहावा ॥
नहीं चेतै तो जनम गमावा, पर्यौ बिहान तब फिरि पछावा ॥
सुख करि मूल भगति जौ जानै, और सबै दुख या दिन आनै ॥
अमृत केवल राम पियारा, और सबै विष के भंडारा ॥
हरिख आहि जो रमियै रामा, और सबै बिसमा के कामा ॥
सार आहि सगति निरवाना, और सबै असार करि जाना ॥
अनाहत आहि सकल ससारा, हित करि जानियै राम पियारा ॥
साच सोई जे थिरह रहाई, उपजै बिनसै झूठ हूँ जाई ॥
मांठा सो जो सहजै पावा, अति कळेस यै करू कहावा ॥
ना जरिये ना कीजै मैं मेरा, तहा अनद जहा राम निहोरा ॥
मुक्ति तो ज आपा पर जानै, सो पद कहा जु भरमि भुजावै ॥’

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३२ ।

इसी को ब्रह्म सरस संकेत में समझना हो तो कबीर के उस पद पर ध्यान दें जिसमें कहा गया है—

‘चलि चलि रे भवरा कमल पास, भवरी बोलै अति उदास ॥ टेक ॥
तैं अनेक पुद्ग को लियो भोग, सुख न भयो तब बढ़यो हे रोग ॥
हो ज कहत तोसूँ बार बार, मैं सब बन सोध्यो डार डार ॥
दिना चारि के सुरग फूळ, तिनहि देखि कहा रख्यो हे भूल ॥’

या बनासपती में लागैगी आगि, तब तूं जैहौ कहां भागि ॥
 पटुप पुराने भये सूक, तब भवरहि लागी अधिक भूख ॥
 उबथौ न जाहि बल गयो है छूटि, तब भंवरी रूनी सीस कूटि ॥
 दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भवरी ले चढी सिर चढ़ाइ ॥
 कहे कबीर मनको सुभाव, राम भगति बिन जम कौ डाव ॥”

—वही, पृ० ११६ ।

अन्त में कबीर की घोषणा और विवशता का जो रंग रूप गोचर होता है वह भी कुछ महत्त्व का है । कबीर का विषाद है—

‘लाघा है कछू लाघा है, ताकी पारिष को न लहै ।
 अबरन एक सकल अबिनासी, घटि घटि आप रहै ॥ टेक ॥
 तोल न मोल माप कछु नाहीं, गिणंती ग्यान न होई ।
 ना सो भारी ना सो इलवा, ताकी पारिष लपै न कोई ॥
 जामैं हम सोई हम ही मैं, नीर मिले जल एक दूवा ।
 यौ जाणै तौ कोई न मरिहै, बिन जाणै थैं बहुत मूवा ॥
 दास कबीर प्रेम रस पाया, पीवणहार न पाऊँ ।
 विघनां वचन पिछाणत नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊँ ॥ १६९ ॥

—वही, पृ० १४४ ।

कबीर को अपनी गहरी साधना में जो रस मिला था, उसे कबीर बाट कर पीना चाहते थे । परन्तु उन्हें पीनेवाला नहीं मिलता था । इसका कारण यह नहीं था कि लोग उस रस को चाहते ही नहीं थे, अपितु यह था कि उसकी पहचान ही कठिन थी । कबीर जिस ‘विवर्जित’ को लेकर साधना के क्षेत्र में उतर पड़े थे और फिर उसे पार कर उससे आगे बढ़ जिस निर्गुण राम में रम गये थे वह भी इस विवर्जित से दूर नहीं था फिर वह सबका राम हो कैसे सकता था कि सब लोग मिल-जुल कर उसकी भक्ति करते । कबीर का यह राम कभी सबका राम हुआ, इसमें पूरा सन्देह है । कबीर का पन्थ चला । अनेक कबीर पन्थी हुए, पर किसी ने सचमुच कबीर के राम को पहचाना भी, ऐसा प्रतीत नहीं होता । उनके

पंथ में ही उनका निरंजन, सूफियों का नारद अथवा इसलाम का शैतान बन गया और लोगों ने न जाने कितनी 'परे को' सोढ़ियाँ निकाल लीं। कबीर का नाम तो चला, पर कबीर का राम नहीं, उसको रट रही उसकी लगन नहीं।

हाँ, तो कबीर की जीवन-यात्रा में तीन पड़ाव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जिन्हें हम क्रम से सूफी, साधक और भक्त के रूप में पाते हैं। कबीर जन्म से मुसलमान थे, पले भी मुसलमान के घर में ही थे। मुसलमानी आडम्बर के प्रति उनके हृदय में कोई आस्था नहीं, पर मुसलमानी कदाचार के प्रति उनके हृदय में घृणा है। मुसलमानी मत में सबसे बड़ा दोष है क्रूरता, हिंसा और जीव-वध। कबीर इसी से इसको अच्छा नहीं समझते। शाक्तों के प्रति उनके हृदय में जो जुगुप्सा है उसका भी कारण यही है। यह कहना कि, कबीर ने इसलाम का भी उसी प्रकार खंडन किया है जिस प्रकार हिन्दू-मत का, ठीक नहीं। कबीर की धारणा मुहम्मदसाहब के प्रति क्या थी इसे कौन कहे? किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं कि कबीर ने मुसलमान होने के कारण ही तीर्थवन का खंडन किया। नहीं, इसका एक मुख्य कारण उनका सहज सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाना भी था। इस सम्प्रदाय का सहज तो उनको खूब रुचा पर उसका गहरा प्राणायाम उनको अधिक न जँचा। निदान उन्होंने काया की साधना छोड़ आत्मा की आराधना को अपनाया। और फिर तो उसमें ऐसे मग्न हुए कि सर्वथा अपने राम के हो रहे।

कबीर प्रचार करते थे पर प्रचारक नहीं थे। कबीर सुधार करते थे पर सुधारक नहीं थे। कबीर एकता चाहते थे पर समझौता के भूखे नहीं थे। तो वस्तुतः कबीर चाहते क्या थे? क्या हिन्दू-मुसलमान को एक करना। नहीं जी, ऐसी बात नहीं थी। कबीर की दृष्टि में राम-रहीम में भेद नहीं था पर कबीर कभी कुरान-पुरान को एक नहीं समझते थे। कबीर चाहते थे सदाचार और मत्स्य का व्यवहार, किसी जाति का नहीं, व्यक्ति का। कबीर की सब से बड़ी देन यही है कि नीच जाति के लोग भी उनके पंथ में आ जाने से शक्ति नहीं गँधे, भक्त बन गये। खान पान और आचार-विचार से शुद्ध बने, मांस-मदिरा से दूर हुये। परन्तु गड़बड़ी यह हो गई कि अपने आप को सिद्ध और ज्ञानी मानते समझ गये और

फलतः छूत छात के शिकार भी खास हुए। कबीर किसी भेद-भाव को मिटाने में सर्वथा असमर्थ हैं और यदि समर्थ हुए तो भाव भगति दिखाने में ही। कबीर का जो रूप घर-घर फैल सका वह बेतुकी अथवा उनका उलटा रूप ही था; कबीर की उलटी जटिल थी, पर यह बताने में कितनी सरल कि उलटा रूप ही वस्तुतः कबीर का रूप है। सच है भाव बदल जाता है पर रूप भाव का साथ देने में समर्थ नहीं होता। चाहे कुछ भी हो, पर यह हो नहीं सकता कि कभी कबीर का नाम भुलाया जा सके। कबीर कबीर ही थे। उनकी होशमें कोई उठ नहीं सकता। कबीर का ढग अलग, कबीर का रग अलग, कबीर का काव्य अलग, कबीर की भाषा अलग, कबीर का सब कुछ अलग, पर ऐसा अलग नहीं कि वह कहीं किसका लग न सके। सच पूछो तो इसी लगालगी में कबीर का सब कुछ है। शून्य महल 'भैंवर गुफा' में कदापि नहीं। कबीर की साधना निराली थी किन्तु उनका जीवन इतना घरेलू था, उनकी वाणी इतनी ठेठ कि कोई घरबारी उन्हें भूल नहीं सकता। उनकी 'झीनी झानी पीनी चढ़रिया' किसको नहीं भाती चाहे वह किसी भी ताने और किसी भी बाने से हो।

४—जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी के उन कव्यों में हैं जिन्हें लोग जानते ही नहीं, मानते भी हैं। तो भी कहीं कहीं यह सुनने में आता है कि मलिक मुहम्मद जायसी को जो प्रतिष्ठा आज हिन्दी-साहित्य में प्राप्त है वह स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल जी के कारण। शुक्ल जी ने जायसी के लिए क्या कुछ किया इसको तो उनके 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका ही बताती है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि जायसी के सम्बन्ध में और शोध की आवश्यकता नहीं है और न सुचारु रूप से उनके ग्रन्थों के सम्पादन की ही। 'पदमावत' की अनेक हस्त लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं उनके आधार पर पाठ भेद के साथ 'पदमावत' का सम्पादन किया जा सकता है। फिर भी हम सरलता से यह कह सकते हैं कि जायसी का अध्ययन 'जायसी ग्रन्थावली' के आधार पर निर्वर्द्ध किया जा सकता है। हर्ष की बात तो यह है कि जायसी ने अपने तीनों ग्रन्थों में कुछ न कुछ अपने विषय में लिख ही दिया है। 'पदमावत' और 'अखरावत' का प्रकाशन 'जायसी-ग्रन्थावली' में प्रथम संस्करण में ही हो गया था। द्वितीय संस्करण में -नका तीसरा ग्रन्थ भी प्रकाशित हो गया, जिसका नाम है 'आखिरी कलाम।' इस 'आखिरी कलाम' में जायसी ने अपने 'अवतार' के सम्बन्ध में लिखा है—

भा औतार मोर नी मदी । तीस बरिस ऊपर कबि बदी ॥
 आवन नूतन-चार विधि ठाना । भा भूकंप जगत अकुलाना ॥
 घरती दीन्ह चक्र-विधि भाई । फिरै अकास रहैट कै नाई ॥
 गिरि पहार मेदिनि तस हाळा । जस चाला चलनी भरि चाला ॥
 मिरित-लोक ज्यों रचा हिंडोला । सरग पताल पवन खट डोला ॥
 गिरि पहार परबत टहि गए । सत समुद्र कीच मिळि भए ॥
 चरती पाटि छात भहरानी । पुनि भइ मया जो सिष्टि दिठानी ॥

—जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३८४।

फलतः छूत-छात के शिकार भी खास हुए। कबीर किसी भेद-भाव को मिटाने में सर्वथा असमर्थ हैं और यदि समर्थ हुए तो भाव भगति दिखाने में ही। कबीर का जो रूप घर-घर फैल सका वह बेतुकी अवस्था उनका उलटा रूप ही था। कबीर की उलटी जटिल थी, पर यह बताने में कितनी सरल कि उलटा रूप ही वस्तुतः कबीर का रूप है। सच है भाव बदल जाता है पर रूप भाव का साथ देने में समर्थ नहीं होता। चाहे कुछ भी हो, पर यह हो नहीं सकता कि कभी कबीर का नाम भुलाया जा सके। कबीर कबीर ही थे। उनकी होशमें कोई उठ नहीं सकता। कबीर का टंग अलग, कबीर का रंग अलग, कबीर का काव्य अलग, कबीर की भाषा अलग, कबीर का सब कुछ अलग, पर ऐसा अलग नहीं कि वह कहीं किसका लग न सके। सच पूछो तो इसी लगालगी में कबीर का सब कुछ है। शून्य महल 'भैंवर गुफा' में कदापि नहीं। कबीर की साधना निराली थी किन्तु उनका जीवन इतना घरेलू था, उनकी वाणी इतनी ठेठ कि कोई घरबारी उन्हें भूल नहीं सकता। उनकी 'झीनी झीनी जीनी चदरिया' किसको नहीं भाती चाहे वह किसी भी ताने और किसी भी बाने से हो।

४—जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी के उन कवयों में हैं जिन्हें लोग जानते ही नहीं, मानते भी हैं। तो भी कहीं कहीं यह मुनने में आता है कि मलिक मुहम्मद जायसी को जो प्रतिष्ठा आज हिन्दी-साहित्य में प्राप्त है वह स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल जी के कारण। शुक्ल जी ने जायसी के लिए क्या कुछ किया इसको तो उनके 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका ही बताती है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि जायसी के सम्बन्ध में और शोध की आवश्यकता नहीं है और न सुचारु रूप से उनके ग्रन्थों के सम्पादन की ही। 'पदमावत' की अनेक हस्त लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं उनके आधार पर पाठ भेद के साथ 'पदमावत' का सम्पादन किया जा सकता है। फिर भी हम सरलता से यह कह सकते हैं कि जायसी का अध्ययन 'जायसी ग्रन्थावली' के आधार पर निरन्तर किया जा सकता है। हर्ष की बात तो यह है कि जायसी ने अपने तीनों ग्रन्थों में कुछ न कुछ अपने विषय में लिख ही दिया है। 'पदमावत' और 'अवतार' का प्रकाशन 'जायसी-ग्रन्थावली' में प्रथम संस्करण में ही हो गया था। द्वितीय संस्करण में उनका तीसरा ग्रन्थ भी प्रकाशित हो गया, जिसका नाम है 'आखिरी कलाम'। इस 'आखिरी कलाम' में जायसी ने अपने 'अवतार' के सम्बन्ध में लिखा है—

भा औतार मोर नौ सदी । तीस बरिस ऊपर कबि बदी ॥
 भावन नुबत-चार विधि ठाना । भा भूकप जगत अकुलाना ॥
 घरती दीन्ह चक्र-विधि भाई । फिरै अकास रहैट कै नाई ॥
 गिरि पहार मेदिनि तस हाळा । अस चाला चलनी भरि बाळा ॥
 मिरित-लोक ज्यो रचा हिंडोला । सरग पताल पवन खट डोळा ॥
 गिरि पहार परबत टहि गए । सप्त समुद्र कीच मिळि भए ॥
 घरती पाटि छात भहरानी । पुनि भइ मया नौ सिद्धि दिठानी ॥

—जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १८४ ।

जायसी ने इसमें अपने जन्म-काल का जैसा वर्णन किया है वह इतिहास में कब पटा इसका ठीक ठीक पता अभी तक नहीं चलता । यदि इस भूकर का पता होता तो जायसी का जन्म-काल ठीक-ठीक निकल आता । जायसी ने लिखने को तो लिख दिया—

भा औतार मोर नौ सदी । तीस बरिस ऊपर कवि बदी ॥

परन्तु इसका भेद नहीं खुला कि वस्तुतः वह तिथि कौन सी थी । जहाँ तक हम दृष्टि दौड़ाते हैं हमको इसमें तीन अर्थ दिखाई देते हैं । एक तो सन् (८००-१-३०) ८३०, दूसरा ९००, तीसरा (९००-३०) ८७० । इनमें से कौन सा अर्थ जायसी को इष्ट है, यह कहना कुछ कठिन है । यदि 'नौ सदी' का अर्थ ९०० लिया जाय और 'तीस बरिस ऊपर कवि बदी' का अर्थ यह लगाया जाय कि कवि ने तीस वर्ष अधिक कहा तो इसका निर्देश हुआ सन् ८७० हिजरी । और यदि 'तीस बरिस ऊपर कवि बदी' का अर्थ यह ग्रहण किया जाय कि ३० वर्ष के उपरान्त कवि कहलाया तो इसका संकेत होगा ९०० हिजरी और यदि आज कल की भाँति 'नौ सदी' का अर्थ ८०० से ९०० लगाया जाय और तीस बरिस ऊपर कवि बदी का ३० वर्ष और तो इसका अर्थ निकला सन् ८३० । जायसी ने 'पदमावत' में शेरशाह का दिल्ली के सुल्तान के रूप में गुण गान किया है; जो किसी भी दशा में सन् १४७ हिजरी के पहले का नहीं हो सकता, क्योंकि दस मुहर्रम सन् १४७ हिजरी (१७ मई, सन् १५४० ई०) में शेरशाह ने हुमायूँ को कन्नौज के निकट हराया था और उसे राज्य-व्युत्तर कर दिल्ली का सिंहासन हथियाया था । ऐसी स्थिति में जायसी की अवस्था बहुत लम्बी हो जाती है और 'नौ सदी' का नवीं सदी अर्थ लगाना भी ठीक नहीं जँचता । अब रही ९०० और ८७० की बात । इनमें से कोई भी प्रमाण हो सकता है ।

'आखिरी कलाम' में एक और भी सन् पाया जाता है । जायसी कहते हैं—

'नौ सै बरस छतीस जो भए । तब एहि कथा क भाखर कहे ॥

देखौ जगत धुँच कबि माहीं । उवत धूप धरि आवत छाहीं ॥

वह संसार सपन कर लेला । मौन बदन नैन भरि देला ॥"

—बही, पृ० ३८८ ।

इससे इतना तो सिद्ध हो है कि 'आखिरी ककाम' की रचना सन् १३६ हिशरी में हुई। यदि जायसी का जन्म-काल १०० माना जाय तो इस समय उनकी अवस्था ३६ वर्ष की ठहरती है जो इस वैराग्य के लिये स्वतः ठीक नहीं ठहरती। जायसी ने अपने वैराग्य के विषय में लिखा है—

जायस नगर मोर अस्थान । नगर क नावें आदि उदयान ॥
तहाँ दिवस दस पढ़ने आयउँ । भा वैराग बहुत सुख पायउँ ॥
सुख भा सोचि एक दुख मानौं । ओहि बिनु जिवन मरन कै जानौं ॥
नैन रूप सो गएउ सनाई । रहा पूरि भर हिरदै छाई ॥
जहँवै देखौ तहँवै सोई । और न आव दिष्टि तर काई ॥
आपुन देखि देखि मन राखौं । दूसर नाहिं, सो कासौ भाखौं ॥
सबै जगन दरपन कर लेखा । आपन दरसन आपहि देखा ॥

अपने कौकृत कारन मीर पसारिन हाट ।

मलिक मुहम्मद बिहने होइ निकसिन तेहि बाट ॥१०॥

—पृ० ३८७,

जायसी के इस कथन से इतना तो सिद्ध हो जाता है कि जायसी का स्थान जायस ही था। जायस का पुराना नाम 'उदयान' था भी। जो कहीं 'विद्यानगर' के रूप में भी पाया जाता है। तहाँ 'दिवस दस पढ़ने आयउँ' का अर्थ कहीं से आकर पाहुन के रूप में जायस में रह जाना नहीं है। नहीं, इसका अर्थ वही है, जो कबीर के चार दिन के पाहुन का—'भयो रे मन पाहुँनही दिन चारि'।

परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि जायसी को यह वैराग्य हुआ कब ? 'मलिक मुहम्मद बिहने होइ निकसिन तेहि बाट' का भाव क्या ?

जायसी ने 'अखरावट' में किसी सन् का उल्लेख नहीं किया और न किसी बादशाह की वन्दना ही की। अतएव किसी तिथि के निश्चय में उससे सीधी सहायता नहीं मिल सकती। हाँ, उसमें दो सकेत ऐसे अवश्य आये हैं, जिनसे कुछ श्वर सचर की ऊहा-पोह की जा सकती है। जायसी कहते हैं—

ना-ना-त तब रोह पुकारा । एक जोलाहै सो मैं हाग ॥
 प्रेम-तंतु नित ताना तमई । जप तप माधि सैरग भगई ॥
 दरब गरब सब देह बिधारी । गनि साथी सब लेहि सँभारी ॥
 पाँच भूत मौड़ी गनि मलई । ओहि सौ मोर न एको चलई ॥
 बिधि कहँ सँवरि साज सो साजै । लेह लेह नावँ कूच सो माँजै ॥
 मन मुर्गी देह सब अँग मोरै । तन सो बिनै, दोउ कर जेरै ॥
 सूत सूत सो क्या मँजाई । सीसा काम बिनत सधि पाई ॥

• दोहा •

रावर आगे का कहै जो सँवरै मन लाह ।
 तेहि राजा निति सँवरै, पूछै धरम बोलाह ॥

• सोरठा •

तेहि मुख लावा लूक, समझाए समझै नहीं ।
 परै खरी तेहि चूक मुहमद जेहि जाना नहीं ॥४३॥
 मन सौं देह कढ़नी बुह गाबी । गाढ़े छीग रहै होह साढ़ी ॥
 ना ओहि लेखे राति, न दिना । करगह बैठि साट सो बिना ॥
 खगिका लाह करै तन घीसू । नियर न होह, डरै हबलीसू ॥
 भरै साँस जब नावै नरी । निसरै छूछी, पैठे भरी ॥
 लाह लाह क नरी चढ़ाई । इललिलाह कै टारि चलाई ॥
 चित डोलै नहि खूटी टरई । पल पल पेखि आग अनुसरई ॥
 सीधे मारग पहुँचै जाई । जो एहि भौति करै सिधि पाई ॥

• दोहा •

बलै साँस तेहि मारग, जेहि से तारन होह ।
 भरै पाँच तेहि सीढ़ी, दुरतै पहुँचै सोह ॥

—पृ० ३७५ ।

जाबसी के इस जुलाहा को कबीर के रूप में न देखना भूल
 होगी और भूल होगी इसके 'तिहि मुख लावा लूक' को उनकी अंतिम याचना के

रूप में न देखना । तो क्या, 'जप तप साधि सैकरा भरई' के सैकरा का आशय सो वर्ष से है ? हो, तो भी हम जायसी के जीवन काल को ठीक ठीक नहीं पकड़ सकते । कारण कि स्वयं कबीर का जीवन-काल संदिग्ध है और इससे यह ध्वनित भी नहीं होता कि कब ? अतः 'अखरावट' को यहीं छोड़ अब कुछ 'पदमावत' से सहायता लेनी चाहिये । 'पदमावत' में सन् का उल्लेख तो है पर विवाद-ग्रस्त । 'पदमावत' में कहा गया है—

‘सन नव सै सत्ताइस अहा । कखा अरंभ-बैन कवि कहा ॥’

—पृ० १० ।

इसके अब तक तीन पाठ उपलब्ध हुये हैं सन १२७, सन् १४७ और सन् १३९ । इनमें से सन् १३९ को तो कोई ठीक नहीं समझता । रहे शेष दो, सो उनमें बरा मतभेद है । कोई २७ को ठीक समझता है तो कोई ४७ को । ४७ के पक्ष में सबसे पुष्ट प्रमाण दिया जाता है—

‘सैरसाहि देहली-सुल्तान्’ परन्तु इसके सम्बन्ध में भी हमें कुछ कहना है । भाग्यवश जायसी ने दो सुल्तानों का वर्णन किया है—एक बाबर और दूसरा शेरशाह । शेरशाह के वर्णन में जो बात पाई जाती है वह बाबर के वर्णन में नहीं । विस्तार की दृष्टि से ही नहीं, भाव और विचार की दृष्टि से भी बाबर के विषय में जायसी का कहना है—

‘बाबर साह छत्रपति राजा । राज पाट उन कहँ विधि साजा ॥
मुलुक मुलेमाँ कर ओहि दीन्हा । अदल दुनी ऊमर अस कीन्हा ॥
अली केर अस कीन्हेसि खोंडा । लीन्हेसि जगत समुद भरि डोंडा ॥
बल हमजा कर जैसेँभारा । जो बरियार उठा तेहि मारा ॥
पहलवान नाए सब आदी । रहा न कतहुँ बाद करि बादी ॥
बल परताप आप तप साधे । घरम के पंथ दई बित बाँधे ॥
हरब जोरि सब काहुहि दिए । आपुन बिरह ग्रास-जस छिए ॥

राजा होइ करे सब छोंचि, जगत मैंह राज ।

तब अस कहँ ‘मुहम्मद’, वै कीन्हा किछु काज ॥ ८ ॥

—पृ० ३८९ ।

इधर शेरशाह की दशा है—

‘सेरसाहि देहली-सुल्तानू । चारिउ खंड तपै अस भानू ॥
 आही छाज छात औ पाटा । सब राजै भुईं धरा ठिठाटा ॥
 जाति सूर औ खाँड़े सूर । औ बुधिवंत सबै गुन पूरा ॥
 सूर नवाए नवखँड वई । सातउ दीप दुनी सब नई ॥
 तहँ लगि राज खडग करि लीन्हा । इसकंदर जुळकरन जो कीन्हा ॥
 हाय सुलेमों केरि अँगूठी । जग कहँ दान दीन्ह भारि मूठी ॥
 औ अति गरु भूमिपति भारी । टेकि भूमि सब सिद्धि सँभारी ॥
 दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहि जुग राज ।
 बादसाह तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज ॥ १३ ॥

—पृ० ६ ।

‘दीन्ह असीस मुहम्मद’ के साथ ही इतना और भी जान लें—

‘सब पुयवी सीसहि नई जोरि जोरि कै हाय ।
 गग जमुन जौ लगि जल तो लगि अम्मर नाय ॥ १५ ॥

—पृ० ७ ।

शेरशाह को जायसी ने केवल ‘शाहेवक्त’ के रूप में ही नहीं देखा है । उसकी कीर्ति के वर्णन में जायसी का जो हृदय उमड़ रहा है उसका भी कुछ गूढ़ कारण होना चाहिये । ‘शाहे वक्त’ की बात तो बाबर के साथ भी कही जा सकती है । फिर दोनों में इतना भेद क्यों ? कवि को प्रीति ही कारण नहीं हो सकती । इसमें कुछ हृदय का लगाव और चित्त-वृत्ति का उल्लास भी है । कदाचित् यही कारण है कि जहाँ हम कवि मुहम्मद का आशीर्वाद देते हुए पाते हैं वहीं सारी प्रजा को मंगल कामना करते हुए भी । मलिक मुहम्मद जायसी की स्थिति क्या थी कि देहली सुल्तान शेरशाह को श्रुति करते करते ‘असीस’ देने लगे । हमें यह भूलना न होगा कि शेरशाह का जन्म रजब ८७७ हिजरी (दिसम्बर १४७२ ई०) में हुआ था । इस दृष्टि से देखा जाय तो आयु के विचार से जायसी तभी आशीर्वाद देने के योग्य ठहरते हैं जब उनका जन्म ८७० हिजरी

मान लिया जाय । अन्यथा अवस्था की दृष्टि से उनको यह अधिकार प्राप्त नहीं ।

कहा जा सकता है कि मलिक मुहम्मद जायसी सूफी फकीर थे । किसी भी अवस्था में उन्हें आशीर्वाद देने का अधिकार प्राप्त था । हो सकता है । किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं । बाबर के बारे में भी तो यही बात कही जा सकती है । वहाँ जायसी के द्वारा यह कार्य क्यों नहीं होता । एक बात और । कहते हैं कि जब हुमायूँ हार कर कन्नौज से भाग गया था और इधर उधर भटकता फिर रहा था तब जायस के लोग यह खबर टबाया करते थे कि हुमायूँ बादशाह शेरशाह पर चढ़ाई कर रहा है । तात्पर्य यह कि जायस के लोग शेरशाह के विरोधी थे । इसका कुफल यह हुआ कि शेरशाह का कोप जगा और उसने यह आज्ञा निकाल दी कि जायस को खेद कर फेंक दो । फिर क्या था, भगदड़ मची और जायस को छोड़ कर लोग इधर उधर हो रहे । इसी होने में जायसी भी अन्यो के साथ अमेठी के पास मैंगरा के जंगल में पहुँच गये और उसी को अपना निवास-स्थान बना लिया । हमारी समझ में यह आता है कि जायसी इसी बिगड़ी को सुधारने के लिये दिल्ली पहुँचे थे और शेरशाह के राज्याभिषेक के अवसर पर ही उक्त आशीर्वाद दिया । ऐसा मानने का एक प्रधान कारण और भी है । शेरशाह का मानिकपुर और जौनपुर से जो ढगाव था वही नहीं तो वैसा ही कुछ मलिक मुहम्मद जायसी का भी था । दोनों की प्रवृत्ति भी एक सी दिखाई देती है । यह असंभव नहीं कि दोनों का परस्पर स्नेह भी पहले से ही रहा हो, और कहते भी तो हैं कि जायसी दिल्ली गए थे । कब गये थे, इसी पर विवाद उठता है । लोग कहते हैं अकबर के समय में । हमारा मत है शेरशाह के अभिषेक में । इस सम्बन्ध में श्री सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी का कथन है—

‘पद्मावत’ में मलिक जी ने शेरशाह सूरी की तारीफ की है । परंतु पता नहीं कि शेरशाह के दरबार में मलिक जी को पद्मावत के पेश करने का अवसर भी मिला या नहीं । अलबत्ता मीर हसन की मसनवी से साबित होता है कि अकबर के दरबार में वे पहुँचे थे—

“ये मलिक नाम मुहम्मद जायसी ।

वह कि पद्मावत जिन्होंने है लिखी ॥

मदें आरिफ़ ये वह और साहब कमान ।
 उनका अकबर ने किया दरयाफ़्त हाल ॥
 हो के मुश्ताक़ उनकी बुलवाया सिताब ।
 ताकि हो सोहबत से उनकी फैज़याब ॥
 साफ़ बातें ये वह और मस्त अलमस्त ।
 लेक़ दुनिया तो है यह जाहिर परस्त ॥
 ये बहुत बदशक़ल और वह बदक़बी ।
 देखते ही उनको अकबर हैंस पड़ा ॥
 जो हैंसा वह तो उनको देख कर ।
 या कहा अकबर को हो कर चश्मेतर ॥
 हैंस पड़े माटी पर ऐ तूम शहरयार ।
 या कि मेरे पर हैंसे बेअख़्तियार ॥
 कुछ गुनह मेरा नहीं ऐ बादशाह ।
 सुख बासन तू हुआ और मैं सियाह ॥
 अस्क में माटी तो है सब एक जात ।
 अख़्तियार उसका है जो है उसके हाथ ॥
 सुनते ही यह हर्फ़ रोया दादगर ।
 गिर पड़ा उनके कदम पर आन कर ॥
 अलगरज़ उनको ब एजाज़े तमाम ।
 उनके घर भिजवा दिया फिर वस्सलाम ॥
 साहबे तासीर हैं जो ऐ हसन ।
 दिल प करता है असर उनका सुखन ॥”

ऊपर किसी हुई कविता से मालूम होता है कि अकबरी दरबार से वे नबी इब्ज़त के साथ घर वापस आए । फ़रमान अकबरी १६३ हिजरी (१५५६ ई०) जो सैयद पियारा हुसेनी रहैस जायस के नाम है और जिसकी बदीअत तमाम जायस वालों को माफ़ी मिली है उसमें भी मालक जी की कोई चर्चा नहीं है ।”

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९९७, पृ० ४४-४५ ।

मीर हसन ने अपनी मसनावी 'रिमुजुल आरिज़' की रचना सन् ११८८ हिजरी (१७७४ ई०) में की। उसमें उन्होंने मलिक मुहम्मद जायसी के विषय में जो कुछ लिखा वह 'मटियहिं हैंसेसि कि कोहरहिं' की व्याख्या भर है। उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह हैंसेनेवाला अकबर ही था। कारण कि अकबर तो ऐसी बातों के लिये प्रतीक सा हो गया है। किसी के प्रसंग में उसके नाम का आ जाना अचरज की बात नहीं। ध्यान देने की बात है कि जायसी की किसी भी रचना में अकबर का उल्लेख नहीं। अथवा यह कहना और भी न्याय-सगत होगा कि जायसी की प्राप्त रचनाओं में कोई अकबर-कालीन नहीं। उधर हम देखते हैं कि अकबर के हाथ में शासन-सूत्र आते ही सभी जायसवालों को जो माफ़ी मिली है उसमें मलिक मुहम्मद का कहीं नाम नहीं। तो क्या यह आश्चर्य का बात नहीं है कि मलिक मुहम्मद अकबर के शासन के अंतिम दिनों (१९९९ हिजरी) तक जीवित रहें और कोई रचना ऐसी न करें कि जिसमें कहीं अकबर का भी नाम हो। सो भी उस अकबर का जो उन्हां के बाबर का पौत्र और जायस का प्यारा था।

मलिक मुहम्मद जायसी की कई पुस्तकों का नाम लिया जाता है। जिनमें से 'पदमावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' तो 'जायसी ग्रन्थावली' के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु 'सखरावत', 'चम्पावत', 'मुराईनामा', 'महरानामा', 'पोस्तीनामा', जैसी पुस्तकों की कोई पात्त अभी नहीं मिली। इनका नाम भी कुछ ऐसा है जिसे देख कर विश्वास नहीं होता कि ये सचमुच पुस्तक के नाम हैं। सम्भव है दो एक और 'वत', और दो एक 'नामा' सशक पुस्तकें छिपा गई हों। किन्तु तोभी उचित यही जान पड़ता है कि इन पुस्तकों का रचना इन तीनों के पहले ही हुई होगी। क्योंकि इनका नाम तथा इनका विषय कुछ और ही प्रतीत होता है। यहाँ यह भी भूलना न होगा कि जायसी ने 'अखरावट' के अन्त में जहाँ यह आशा प्रकट की है कि—

‘गलि सरि माटी होइ लिखनेहारा बापुरा।

जो न मिटावै कोइ, अलिखै रहै बहुते दिना’ ॥ ५३ ॥

—जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३८२।

मर्दे आरिफ ये वह और साहब कमान ।
 उनका अकबर ने किया दरयाफ़्त हाल ॥
 हो के मुश्ताक उनकी बुलबाया सितार ।
 ताकि हो सोहबत से उनकी कैज़याब ॥
 साफ़ बातन ये वह और मस्त अलमस्त ।
 लेक दुनिया तो है यह आहिर परस्त ॥
 ये बहुत बदशकल और वह बदकबी ।
 देखते ही उनकी अकबर हैंस पवा ॥
 जो हैंसा वह तो उनको दँव कर ।
 या कहा अकबर को हो कर चश्मेतर ॥
 हैंस पड़े माटी पर ए तुम शहरयार ।
 या कि मेरे पर हैंसे बेभ्रान्तयार ॥
 कुछ गुनह मेरा नही ऐ बादशाह ।
 सुख बासन तू हुआ और मैं सियाह ॥
 अस्क में माटी तो है सब एक जात ।
 अख़्तयार उसका है जो है उसके हाथ ॥
 सुनते ही यह हर्क रोया दादगार ।
 गिर पवा उनके कदम पर आन कर ॥
 अलगरज़ उनको ब एजाजे तमाम ।
 उनके घर भिजवा दिया फिर बस्सकाम ॥
 साहब तासीर है जो ऐ हसन ।
 दिख प करता है असर उनका सुखन ॥”

ऊपर किसी हुई कविता से मालूम होता है कि अकबरी दरबार से वे कवी इज्जत के साथ घर वापस आए । फरमान अकबरी १६३ हिजरी (१५५९ ई०) जो सेबद पिबारा हुसैनी रहैस जाबस के नाम है और जिसकी बदीकत तमाम जाबस बाबो को माफ़ी मिली है उसमें भी मलक जी की कोई चर्चा नहीं है ।”

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सन् १९९७, पृ० ४४-४५ ।

मीर हसन ने अपनी मसखी 'रिमुजुल आरिफ' की रचना सन् ११८८ हिजरी (१७७४ ई०) में की। उसमें उन्होंने मलिक मुहम्मद जायसी के विषय में जो कुछ लिखा वह 'मटियहि हैसेसि कि कोहरहि' की व्याख्या भर है। उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह हमने वाला अकबर ही था। कारण कि अकबर ने ऐसी बातों के लिये प्रतीक सा हो गया है। किसी के प्रसंग में उसके नाम का आ जाना अकबर की बात नहीं। ध्यान देने की बात है कि जायसी की कसी भी रचना में अकबर का उल्लेख नहीं। अथवा यह कहना और भी न्याय-संगत होगा कि जायसी की प्राप्त रचनाओं में कोई अकबर-काव्य नहीं। उधर हम देखते हैं कि अकबर के हाथ में शासन सूत्र आते हैं सभी जायसवालों का जो माफ़ी मिली है उसमें मलिक मुहम्मद का कहीं नाम नहीं। तो क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मलिक मुहम्मद अकबर के शासन के आतम दिनों (१९९ हिजरी) तक जीवित रहे और कोई रचना ऐसी न करे कि जिसमें कहीं अकबर का भी नाम हो। सो भी उस अकबर का जो उन्हें के बाबर का पौत्र और जायस का प्यारा था।

मलिक मुहम्मद जायसी की कई पुस्तकों का नाम लिया जाता है। जिनमें से 'पद्मावत', 'अबरावट' और 'आखिरी कवाम' तो 'जायसी ग्रन्थावली' के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु 'सल्गनाम', 'जम्नावन', 'मुगईनामा', 'महरानामा', 'पोस्तीनामा', जैसी पुस्तकों की कोई प्रकृत अभी नहीं मिली। इनका नाम भी कुछ ऐसा है जिसे देख कर विश्वास नहीं होता कि ये सब कुछ पुस्तक के नाम हैं। सम्भव है दो एक और 'वन', और दो एक 'नामा' सड़क पुस्तकें मिली गई हों। किन्तु तभी उचित यही मान पड़ता है कि इन पुस्तकों का रचना इन तीनों के पहले ही हुई होगी। क्योंकि इनका नाम तथा इनका विषय कुछ और ही प्रतीत होता है। यहाँ यह भी भूलना न होगा कि जायसी ने 'अबरावट' के अन्त में जहाँ यह आधा प्रकट का है कि—

'गलि सरि माटी हाह किलनेहारा बापुरा।

जो न मिटावे कोह, भिन्ना रहै बहुते दिना' ॥ ५३ ॥

—जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १८२।

वही 'पदमावत' के उपसंहार में यह कामना भी—

‘केह न जगत जस बेचा, केह न लीन्ह जस मोल ?।

जो यह पदे कहानी, हम सँवरे दुई बोल’ ॥ २ ॥

—पृ० ३४२ ।

इतना ही नहीं, अपितु कुछ और भी—

‘मुहम्मद कबि यह जोरि सुनावा । सुना सो पीर प्रेम कर पावा ॥

जोरी लाह रक्त के लेई । गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल मेई ॥

औ मैं जानि गीत अस कीन्हा । मकु यह रहै जगत मई चीन्हा ॥’

—पृ० ३४१ ।

आशय यह कि ‘अल्लरावत’ और ‘पदमावत’ को ही मलिक मुहम्मद जायसी की अंतिम रचना समझना चाहिये । इनमें भी विशेषतः ‘पदमावत’ को । ‘अल्लरावत’ में जो बात कही गई है वही ‘पदमावत’ में कर दिखाई गई है । अस्त, हमारा कहना हुआ कि जायसी ने जो कुछ लिखा इनके पहले लिखा । क्या लिखा ! यह शोध के गर्भ में है । यदि जन-अति को प्रमाण मानें तो यह मानना होगा कि उनकी अन्य पुस्तकों का सम्बन्ध किसी न किसी व्यक्ति से रहा है । ‘पोरतीनामा’ के बारे में प्रसिद्ध है कि उसकी रचना अपीमचियों की हँसी उड़ाने के लिये की गई थी । जायसी के पीर शाह मुबारक बोदला स्वयं अपीमर्चा थे । उन्होंने जायसी को ‘निपूते’ का शाप दिया । परिणाम यह हुआ कि उनके सात बच्चे उसी दिन छत के गिर जाने से दब मरे और पीर के प्रसाद से उनका नाम उनकी रचनाओं के द्वारा ही चला ।

मलिक मुहम्मद जायसी के पीर कौन थे इसमें भी कुछ विवाद है । ‘आखिरी कव्जम’ में कहा गया है—

‘मानिक एक पाएटैं उजियारा । सेबद असरफ़ पीर पियारा ॥

जहाँगीर चिस्ती निरमरा । कुछ जग मई दीपक बिचि धरा ॥

औ निहंग हरिबा-जल माहीं । बूझत कई धरि काइत बाहीं ॥

कमुद माई जो बोहित किरई । केतै नाई सौई होइ तरई ॥

तिन्ह घर हौं मुरीद, सो पीरू । सँवरत बिनु गुन कावै तीरू ॥
 कर गहि घरम-पंथ देखरावा । गा भुलाइ तेहि मारग कावा ॥
 जो अस पुरुषहि मन चित लावै । इच्छा पूजै आस तुलावै ॥
 जो चाखिस दिन सेवै, बार बुहारै कोइ ।
 दरसन होइ 'मुहम्मद', पाप जाइ सब घोइ ॥ ९ ॥

—पृ० ३८७ ।

जायसी ने 'अखरावट' और 'पद्मावन' में भी इन्हीं 'सैयद असरफ पीर पियारा' को अपना पीर माना है और अपने को उनके घर का सेवक कहा है 'अखरावट' में तो नहीं पर 'पद्मावन' में उनके वध का भी परिचय है—

'ओहि घर रतन एक निरमरा । हाजी सेख सबै गुन भरा ॥
 तेहि घर दुइ दीपक उजियारे । पथ देइ कहै देव सँवारे ॥
 सेख मुहम्मद पून्यो-करा । सेख कमाल जगन निरमरा ॥
 दुओ अचल धुव डोलहि नाही । मेरु खिखिद तिन्हहु उपराही ॥
 दीन्ह रूप ओ जोति गोसाईं । कीन्ह खभ दुइ जग के ताई ॥
 दुहुँ खभ टेके सब मही । दुहुँ के भार साहाय पिर रहा ॥
 जेहि दरसे ओ परमे पाया । पाप हरा, निरमल मह काया ॥
 मुहम्मद तेह निबित पथ जेहि सँग मुरसिद पीर ।
 जेहिके नाव ओ खेवक बेगि लाग सो तीर ॥' १९ ॥

—पृष्ठ ९ ।

इस परिचय को मक्की मीति समझना चाहिये । कारण कि इसमें शैख मुहम्मद बोदका का नाम आया है और नाम आया है शैख कमाल का भी । परन्तु दोनों में शीक और रूप के अतिरिक्त विद्या और गुण का कहीं संकेत नहीं मिलता । जयसी ने तो इनको 'दरस परस' के लिए ही बुना है और उनको इसी हेतु सेख समझा है कि वे 'सैयद असरफ पीर पियारा' के घर हैं ।

जायसी ने इसकी ओर भी संकेत कर दिया है जिस पर उक्तिन ध्यान न देने के कारण उनकी पीर-परम्परा में गलबगी हो गई है और किसी किसी ने तो मुह

परम्परा को पीर-परम्परा का ही अंग मान लिया है। जायसी की गुरु-परम्परा यह है—

गुरु मोहदी खेबक मैं सेवा । चले उताहल जेहि कर सेवा ॥
 अगुवा भयउ सेल बुरहानु । पंथ लाइ महि दीन्ह गयानु ॥
 अलहदाद भल तेहि कर गुरू । दीन दुनी रोसन सुरलुरू ॥
 सैयद मुहम्मद कं वै चेला । सिद्ध पुरुष-संगम जेहि खेला ॥
 दानियाल गुरु पंथ कलाये । इजरत ख्वाज खिजिर तेहि पाए ॥
 भए प्रसन्न ओहि इजरत ख्वाजे । लिये मेरह जहँ सैयद राजे ॥
 ओहि सेवत मैं पाई करनी । उचरी जीम, प्रेम कवि बरनी ॥
 वै सुगुरू, हों चेला, नित बिनबौं भा खेर ।
 छन्ह हुत देखे पायउं, दरस गोसाईं केर ॥ २० ॥

—पृष्ठ ९ ।

कुछ हेर-केर के साथ यही बात 'अल्लरावट' में भी कही गई है। हाँ, उसमें विशेषता यह अवश्य है कि शैख बुरहान को काकपी नगर का बताया गया है। करते हैं—

‘पा-पाएउं गुरु मोहदी मीठा । मिला पथ सो दरसन दीठा ॥
 नाईं पियार सेल बुरहानु । नगर काकपी हुत गुरु-धानु ॥’

—पृष्ठ ३६४ ।

‘पदमावत’ में जो कहा गया है—

‘ओहि सेवत मैं पाई करनी । उचरी जीम, प्रेम कवि बरनी ।’

उससे प्रकट है कि जायसी को काव्य की शिक्षा किस घरसे मिली थी, ‘अगुवा भयउ सेल बुरहानु’ से ध्वनित था। यह होता है कि शैख बुरहान के द्वारा गुरु मोहदी (मुदीउद्दीन) का सत्संग प्राप्त हुआ था। शैख बुरहान हिन्दी में कविता करते थे। कुछ भी हो, जायसी के आधार पर निर्विवाद कहा जा सकता है कि जायसी के शिक्षा-गुरु काकपी के थे तो दीक्षा-गुरु जायस के। पर जायस के क्षेत्र वे इसमें विवाद है। मल्लभूम सैयद असरफ जहाँगीर का निधन सन् ८०८ हिजरी (१४०६

ई०) में हो चुका था, अतः जायसी का मुरशिद उनको कहा नहीं जा सकता। शेर शाही का निधन सन ९०६ हिजरी (१५०० ई०) में हुआ और उनके वंशज शाह जमाल की मृत्यु उनके पहले ही हो चुकी थी। उनके पुत्र शेर मुबारक का अन्त सन ९७४ (१५६६ ई०) और शेर कमाक का अन्त सन ९८४ (१५७६ ई०) में हुआ। प्रतीत होता है कि जायसी ने जो अपने दीक्षा-गुरु का स्पष्ट निर्देश न कर उस घर का ही उद्योग किया है उसका कारण यही है कि उस समय उस घर में कोई मुरशिद होने के योग्य न था। उन्होंने उस घर की सेवा सैयद असरफ जहाँगीर के नाते की। जो हो, जायसी के मुँह से इसका निर्णय नहीं होता कि वस्तुतः उनका दीक्षा-गुरु कौन था।

जायसी ने अपने मित्रों का भी परिचय दिया है किन्तु केवल 'पदमावत' में ही :—

‘चारि मीत कवि मुहम्मद पाए । जोरि मिताई सिर पहुँचाए ॥
यूसुफ़ मलिक पंडित बहु शानी । पहिले भेद-बाग़ वे जानो ॥
पुनि सखार कादिम मतिमाहीं । लॉई-दान उभै निति बाँहा ॥
मियाँ सखोने सिँघ बरियारु । बीर खेतारन लखग जुझारु ॥
सेख बड़े, बड़ सिद्ध बल्लाना । किए आदेस सिद्ध बड़ माना ॥
चारिउ चतुरदसा गुन पढ़े । ओ सँजोग गोसाईं गढ़े ॥
बिरछि होइ ओ चन्दन पासा । चन्दन होइ बेचि तेहि बासा ॥
मुहम्मद चारिउ मीत मिलि भए जो एकै बिस ।
एहि जग साय ओ निबहा, ओहि जग बिह्वारन कित ॥ २२ ॥

—पृष्ठ १० ।

मलिक मुहम्मद जायसी ने इनका नाम और इनकी विशेषता तो दी किन्तु इनके घर-बार और स्थान के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। जायस के लोग इनको वहीं का मानते हैं।

सबसे विचित्र बात यह है कि जायसी ने अपने कुछ के सम्बन्ध में कहीं कुछ नहीं कहा है। अपने विषय में इतना अवश्य लिखा है—

जायसी के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि 'जिक असदी' के समय उनका बघ सिंह-ध्वनि के भ्रमसे हो गया था। यहाँ देखना यह चाहिये कि जायसी की साधना थी क्या? यह तो मानी हुई बात है कि जायसी ने अपने अष्टात्म को 'पदमावत' का रूप दिया है और अतः में उसके उपसंहार में कह भी दिया है—

‘मैं एहि अरथ पडितन्ह वृत्ता । कहा कि हम्ह किछु और न सूझा ॥
 चौदह भुवन जो तर उपराही । ने सब मानुष के घट माही ॥
 तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
 गुरु मुआ जेहि पथ देखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
 नागमती यह दूनिया-धधा । बाँचा सोइ न एहि चित बंधा ॥
 राख दूत सोइ सैतान । माया अलाउदी मुलतान ॥
 प्रेम-कथा एहि भौति बिचारहु । वृक्ष लेहु जो बूझै पारहु ॥

तुरकी, अरबी, हिदुई, भाषा जेती आदि ।

जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबै सराईं ताहि ॥ १ ॥

—पृष्ठ ३४१

जायसी ने अपनी प्रेम-कथा में जिस प्रेम मार्ग का जो प्रदर्शन किया है उसकी व्याख्या भी उन्होंने अपने ढंग से कर दी है। सिंघल में जो पद्मिनी अथवा हृदय में जो बुद्धि है उसकी प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है इसका आदेश आदिनाथ महादेव ने मक राजा को इस प्रकार दिया है—

‘गढ़ तस बाँकि जैसि तोरि काया । पुरुष देखु ओही के छाया ॥
 पाइय नाहि जूझ इठि कीन्हे । जेह पावा तेहि आपुहि चीन्हे ॥
 नौ पौरी तेहि गढ़ मसियारा । ओ तई फिरहि पाँच कोटवारा ॥
 इसवै बुबार गुपुत एक ताका । अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका ॥
 मेदै जाह सोइ बह बाटी । जो कहि मेदै, बड़े होइ बाँटी ॥
 गढ़ तर कुंड, सुरैंग तेहि माहीं । तई बह पंच कहौ तोहि पाहीं ॥
 जोर बैठ अस सेंचि सेंचारी । बुझा पैत अस काव बुझारी ॥

जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तब सीप ।

दूँदि लेइ जो सरग-दुआरी चढ़े सो सिंगल दीप ॥ ९ ॥

—पृष्ठ १०५ ।

कायागद के बाँक चढ़ाव का बोध तो हो गया परन्तु उसकी बिधि का पता अभी नहीं चला । अतएव उसे भी देख लेना चाहिये—

दसवैं दुआर ताल कै लेला । उलटि दिमि जालाव सो देला ॥

जाइ सो तहाँ सौंस मन बँधी । जस धँसि लीन्ह कान्ह काळिदी ॥

तू मन नाथु मारि कै सोसा । जो पै मरहि अबहि कर नासा ॥

परगट लोकचार कहु बाता । गुपुन काउ मन जासौं राता ॥

‘हौं हौं’ कहत सबै मति खोई । जौ तू नाहिं आहि सब कोई ॥

जियतहि जुरै मरै एक बारा । पुनि का मोच, को मारै पारा ॥

आपुहि गुरु सो आपुहि चेला । आपुहि सब ओ आपु अकेला ॥

आपुहि मीच जियनै पुनि, आपुहि तन मन सोइ ।

आपुहि आर करै जो चाहे, कहाँ सो दूसर कोई ॥ १० ॥

—पृष्ठ १०५-१०६ ।

मन्त्रों में यही जायसी की साधना है और है यही जायसी का सिद्धान्त । इसी को स्वतन्त्र रूप से देखना हो तो ‘अवरावट’ का भ्रम देखे—

‘चेला चरचत गुरु-गुन गावा । खोजत पूछि परम रस पावा ॥

● गुरु बिचारि चेला जेहि चीन्हा । उन्नर कहत भरम लेइ लीन्हा ॥

जगमग देख उई उजियारा । तीनि लोक लहि किरन पसारा ॥

ओहि ना बरन, न जाति अजानी । चंद न मुरुज, दिवस ना राती ॥

कथा न अई अकथ भा रहई । बिना बिचार समझि का परई ॥

सोइह सोइह बसि जो करई । जो बूझे सो धीरज धरई ॥

कई प्रेम कै बरनि कहानी । जो बूझे सो सिद्ध गियानी ॥

माटी कर तन भाँषा, माटी मई नव खंड ।

जे केहु खेले माटि कई, माटी प्रेम प्रचंड ॥’

—पृष्ठ ३८१-२ ।

जायसी ने जो कुछ कहा है उसे विवेक की आँख से देखें तो 'पदमावत' का सारा रहस्य खुल जाय, और जायसी का मेद भी भली-भाँति मिल्न जाय। जायसी भी हठ-योग की साधना मानते हैं पर साथ ही साथ यह भी कहते जाते हैं कि यही सब कुछ नहीं। इसके आगे जो है वही सब कुछ है। जायसी ने चित्त-वृत्ति-निरोध के लिए योग को ठीक ठहराया है, कुछ परम ज्ञान अथवा सिद्ध-रस के लिये नहीं। यही कारण है कि पछिनी जब रत्नसेन को प्राप्त हो जाती है तब वह उनके योग को अधिक महत्त्व नहीं देते। एक प्रकार से उसका उपहास ही करने हैं। 'रसायन' के प्रति भी उनकी यही धारणा है।

जायसी ने जहाँ प्रेम को 'जोग' में ऊँचा ठहराया है वहीं 'नाद' से वेद को भी। राजा 'नाद' के बिना भोजन नहीं करता है और पंडित से प्रधान करता है—

‘तुम पंडित जानहु सब मेदू। पहिले नाद भएउ, तब बेदू ॥
आदि पिता जो बिधि अवतारा। नाद सगुजिउ ज्ञान सँचारा ॥
सो तुम बरजि नीक का कीन्दा। जेवन सग भोग बिधि दीन्दा ॥
नैन, रसन, नासिक युह गबना। इन्ह चारिहु सँग जेवै भवना ॥
जेवन देखा नैन सिराने। जीभहि स्वाद भुगुति रस जाने ॥
नासिक सबै बासना पाई। सबनहिं काह करत पहुनाई ? ॥
तेहि कर होइ नाद सौं पोखा। तब चारिहु कर होइ सँतोखा ॥

ओ सो सुनहिं सबद एक जाहि परा किछु सुनि।

पंडित ! नाद सुनै कहैं बरजेहु तुम का बूझि ? ॥ १-॥

—पृष्ठ १४१-२।

पंडित चुप नहीं रहने, झट उत्तर देते हैं—

‘राजा ! उतर सुनहु अब सोई। महि डोळे जो बेद न होई ॥
नाद, बेद, मद, पैस जो चारो। काया मई ते, लेहु बिचारी ॥
नाद हिये, मद उपनै काया। जहँ मद तहाँ पैस नहिं छाया ॥
होइ उनमद जूझा सो करे। जो न बेद-आकुस सिर चरे ॥

जोगी होइ नाद सो सुना । जेहि सुनि काय जरै बौगुना ॥
 क्या जो परम तत मन लाबा । घूम माति, सुनि और न भाबा ॥
 गए जो घरमपय होइ राजा । तिन कर पुनि जो सुनै तो लाजा ॥
 जस मद पिप घूम कोइ, नाद सुने पै घूम ।
 तेहिने बरजे नीक है, चढ़े रहसि कै दूम ॥ ११ ॥

—पृष्ठ १४२ ।

जायसी की दृष्टि में 'नाद' को भी स्थान है और 'वेद' को भी, 'नाद' उन्माद के लिये, वेद अकुश के लिये । यदि वेद न रहे तो उन्माद में आकर लोग परस्पर जूझा करें, और कहीं शान्ति का विधान न हो । 'पदमावत' और कुल नहीं, इसी 'नाद' और इसी वेद का समन्वय है । उसका पूर्वार्द्ध 'नाद' है तो उत्तरार्द्ध 'वेद' है । यही वेद जायसी को 'जोग' में अबग करता है और अलग करता है कबीर से भी । कबीर ने वेद की मर्यादा का उल्लंघन किया और सदा सबसे जूझते ही रहे । जायसी ने ऐसा नहीं किया उनके वेद ने कहा—

विधना के मार्ग है तेते । सरग नखत तन रोआँ जेते ।
 फिर भी, जायसी का अपना पक्ष यह है—

'ना—नमाज है दीन क यूनी । पढ़ै नमाज सोइ बब गुनी ॥
 कही तर्कत चिसनी पीरू । उधरित असरफ औ जहंगरू ॥
 तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई । देखि समुद जल जित न देगई ॥
 जेहि के ऐसन खेवक भळा । जाइ उत्तरि निरभय सो चला ॥
 राह हकीकत परे न धुकी । पैठि मार्गत मार्ग बुझी ॥
 टूँडि उठै लेह मानिक मोती । जाइ समाइ जोति मई जोती ॥
 जेहि कहैं उन्ह अमनाव चढ़ावा । कर गहि तीर ज्वेह लेह आवा ॥

मौली राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ ।

पाँव राखि तेहि सीढ़ी निमरम पहुँचे सोइ ॥

सोगठा

जेह पावा गुरु मीट मो मुख मार । मई चये ।

मुख अर्नेद भा डीठ, मुहमद सायी पोड जेहि ॥ १६॥”

—पृष्ठ ३६३ ।

साधना के क्षेत्र में सद्गुरु को सभी मानते हैं और सभी मानते हैं ‘तरीकत’ को । हाँ, यदि कबीर जैसे ‘आजाद’ लोग नहीं मानते हैं तो ‘शरीअत’ को जायसी भी कहते हैं—

‘दा दाया जाकहँ गुरु करई । सो सिल पंथ समुझि पग घरई ॥
सात खड औ चारि निसेनी । अगम चढ़ाव, पंथ तिरवेनी ।
तौ वह चढ़े जै गुरु चढ़ावे । पाँव न डगै, अधिक बल पावे ॥
जो गुरु सकति भगति भा चेला होई खेलार खेल बहु खेला ॥
जो अपने बल चढ़ि कै नाँवा । सो खसि परा टूटि गई जाँवा ॥
नारद दीरि सग तेहि मिळा । छेइ तेहि माथ कुमारग चला ॥
तेला बैल जो निसि दिन फिरई । एकौ परग न सो अगुमरई ॥

सोइ सोधु लागा रहै जेहि चलि आगे जाइ ।

ननु फिरि पाछे आवई, मारग चलि न सिराइ ॥

सोरटा

मुनि हस्ती कर नाँव, अँधरन्ह टोवा धाइ कै ।

जेइ टोवा जेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा ॥’ २४ ॥

—पृष्ठ ३६१ ।

यह हस्ती का दृष्टान्त बीदो से इमाम ग़ज़ाली ने लिया और फिर वह विश्व व्यापक हो गया । जायसी की उदारता ऐसी नहीं कि वह सभी पन्थों को सम दृष्टि से देख सके । उनकी दृष्टि में तो—

‘सो बब पंथ मुहम्मद केरा । हे निरमल कबिलास वसेरा ॥

लिखि पुरान बिधि पठवा साँचा । भा परवान, दुवौ जग बाँचा ॥

मुनत ताहि नारद उठि मागे । छूटै पाप, पुनि मुनि लागे ॥

वह मारग जो पावे सो पहुँचै भव पार ।

जो भूला होइ अनतहि तेहि लूटा बटपार’ ॥

—पृष्ठ ३६९ ।

सच है, जायसी किसी में लबने नहीं पर लबाने मदा अपनी ही है ।
‘पदमावन’ में जहाँ जायसी मुसलमान है वही ‘मल्कावट’ में मुहम्मदी और
‘आखिरी कलाम’, में तो प्रत्यक्ष ही ‘फातिमा’ । बीबी फातिमा के प्रसाद में ही
अल्लाह को सतेप होगा और रसूल की उम्मत (मुसलमान) की मुक्ति होगी ।
अच्छा होगा, इसे जायसी के शब्दों में ही सुन लें । ‘आखिरत’ (कयामत) में
अल्लाह का सक्रोध कहना है—

पुनि रिसाह कै काहै गोसाईं । फातिम कहैं टूँडू दुनियाई ॥
का मोसौं उन सगर पसारा । मदन हुसैन कही को मारा ॥
टूँडे जगत कतहुँ ना पैई । रिगि के जाह मारि गोहरैई ॥
‘टूँड़ि जगत दुनिया सब आपउँ । फातिम खोज कतहुँ ना पाएउँ ॥’
‘आयसु होइ, अहै पुनि कहाँ’ । उठा नाद है घरती महाँ ॥
‘मूँदे नैन सकल संसारा । बीबी उठै, करै निश्वारा ॥’
‘जो कोइ देखे नैन उचारी । तेहि कहैं छाग कर्गें घरि जारी ॥’
आयसु होइहि दैठ कर, नैन रहै सब झोंपि ।
एक ओर डरै मुहम्मद, उमत मरे हरि कोंपि ॥ ३८ ॥

—पृष्ठ १९९-४०० ।

अल्लाह का आदेश कभी टल नहीं सकता । रसूल ने सब कुछ किया । बेटी
फातिमा को भाँति-भाँति से समझाया । परिणाम यह हुआ कि—

तब रसूल के कहैं भइ माया । जिन खिन्ता मानहु, भइ दाया ॥
जो बीबी अबहुँ रिसिपाई । सबहि उमत-संग आइ बिसाई ॥
अब फातिम कहैं बेगि मुलाबहु । देह दाद तो उमत छोडावहु ॥
फातिम आइ के पार कगावा । घरि बज्जीद दोजल मई गवा ॥

—पृष्ठ ४०१ ।

मलिक मुहम्मद जायसी ने फातिमा के प्रति जो माव प्रकट किया है उससे
अतीव होता है कि जायसी कस्तुतः शीबा थे । परन्तु ऐसा मानने का कोई दृढ़

ठीक है ही सर्वथा दृढ़ योग के भी अनुकूल है। जायसी के अध्ययन में जो सबसे बड़ी अवधान उपरिष्ठ होती है, वह यह है कि जायसी 'पदमावत' में कहीं 'नौ खंड' का उल्लेख करते हैं तो कहीं 'सात खंड' का। सात खंड का पता तो चल गया। नौ खंड के सम्बन्ध में इतना जान लें कि नौ खंड के साथ जायसी ने नौ पौरी का भी विधान किया है—

नवौ खंड नव पौरी ओ तहँ वज्र-केवार ।
चारि बसेरे सौ चर्व, सत सौ उतरे पार ॥ १० ॥

—पृष्ठ १९ ।

बसरे तो यहाँ भी चार ही हैं किन्तु खंड है नौ। 'नवद्वारे पुरे देही' तो प्रसिद्ध है ही। सिद्धों में भी—

‘नवसु द्वारदेशेषु नवखण्डान्यकीर्त्तयन् ।’

—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, पृष्ठ २०, श्लोक २४ ।

सूफियों और योगियों में जो एकता दिखाई देती है वह यहाँ तक नहीं रह जाती। उसका सूत्र तो हमें कुरान और उपनिषदों में भी मिलता है। इस विषय में यदि विशेष रूप से कुछ जानना हो तो हमारी 'कुर्आन में हिन्दी' नाम की पुस्तक देखें।

कबीर और जायसी में सब से बड़ा भेद यह है कि कबीर मनमौजी और जायसी किताबी हैं। कबीर विधि-विधान को नहीं मानते स्वतंत्र-विचार के जीव ठहरे। जायसी विधि-विधान को मानते हैं शराब (शास्त्र) को छोड़ नहीं सकते। सूफी दृष्टि से जायसी बाशरा सूफी हैं तो कबीर बेशरा सूफी। कबीर को खंडन बहुत प्यारा है जायसी मंडन के भूखे हैं। कबीर दूसरे को झकझोरते हैं जायसी उसको लुभाते और फुसकाते हैं। कबीर चुटकुलों से काम लेते हैं, जायसी प्रबन्ध से भूमिका बाँध कर। कबीर लुहाना चाहते हैं जायसी कगाना चाहते हैं। जायसी भी मूर्ति-पूजा को ठीक नहीं समझते। 'पदमावत' में उसकी भर्त्सना करते हैं परन्तु किस टंग से और किस रूप में। रत्नसेन पद्मिनी के सख्ताकार

के लिये शिव-मन्दिर में जाता है और उसके दर्शन से वरित हो जाने पर कृताश हो कर पछताता है—

‘अरे मिलिछ बिसवासी देवा । कित मैं आह कीन्ह तोरि सेवा ॥
 आपनि नाव चढ़े जो देखै । सोतो पार उतारै खेहै ॥
 सुफळ लागि पग टेकेउँ तोरा । सुभा क सेंबर नू भा मोरा ॥
 पाहन चढ़ि जो चहै भव पारा । सो ऐमे बूढ़े मस धारा ॥
 पाहन सेवा कहाँ पसीजा । जनम न ओद होइ औ भाजा ॥
 वाठर सोई जो पाहन पूजा । सकत को भार छेइ सिर पूजा । ॥
 काहे न पूजिय सोइ निरासा । मुए जियत मन जाकरि आसा ॥
 शिव तरेंदा जेह गहा पार भए तेहि साथ ।
 ते पै बूढ़े बाउरे भेइ पूछि जिन्ह हाथ ॥ ४ ॥

—पृष्ठ ९९

सचमुच जायसी सिंह के उपासक हैं भेड़ के नहीं । फिर भी, पाहन को ठुकराते नहीं । पाहन देवता भी कुछ सुना जाते हैं । सुनिये—

देव कहा सुनु, वउरे राजा । देवहि अगुमन मारा गाजा ॥
 जौ पहिछेहि अपने सिर परई । सो का काहुक चरहरि करई ॥
 पदमावति राजा के बारी । आह सखिन्ह सह बदन ठपारी ॥
 जैसे चाँद गोहने सब ताग । परेउँ भुजाइ देखि ठजियारा ॥
 चमकहि दसन बीजु के नाई । नैन-बक जमकात भवाई ॥
 हौं तेहि दीप पतग होइ परा । जिउ जम कादि सरग छेइ चरा ॥
 बहुरि न जानौं दहूँ का भई । दहूँ कबिलास कि कहूँ अपसई ॥
 अब हौं मरौं निसाँसी, हिये न आबे साँस ।
 रोगिया की को चालें, बेदहि जहाँ उपास ॥ ५ ॥

—पृष्ठ ९९-१०० ।

जायसी ने किस खातूरी से यह दिखाया है कि परम शक्ति का सामना करने वाले ही देवता चकपका जाते हैं और कि कृतबुद्धि हो कुछ नहीं कर पाते ।

इस प्रकार देवोपासना व्यर्थ गई। योग का परिणाम भी सम्मिलन किंवा सम्भोग नहीं हुआ। निदान रत्नसेन का निरुचय है—

‘पाएँ नहिं होइ जोगी जती। अब सर चढ़ौ जरौं जस सती ॥

आइ जो पीतम फिरि गा, मिछा न आइ वसंत ।

अब तन होरी घालि कै, जारि करौ भसमत ॥ ६ ॥

—पृष्ठ १०० ।

बस, यही वह ‘अपनास’ है जिससे प्रियतम की प्राप्ति होती है और प्रेम ही वह मार्ग है जिससे शाश्वत सम्भोग प्राप्त होता है। जायसी ने इसको किस प्रकार ‘पदमावत’ में चरितार्थ किया है इसका भी अनुमन्धान हो जाना चाहिये। जो जोग पद्मिनी को परमात्मा और रत्नसेन को जीवात्मा का प्रतीक मानते हैं, वे उतावली में कुछ का कुछ समझ लेते हैं। जायसी ने तो उपसंहार में खोकर कह दिया है कि पद्मिनी बुद्धि और रत्नसेन मन है फिर हम इनको परमात्मा और जीवात्मा का प्रतीक क्यों मानें ?

विचारणीय बात तो यह है कि जायसी ने ‘पदमावत’ में सब कुछ तो कहा पर यदि नहीं कहा तो जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक को। इसका कारण भी है। ‘पदमावत’ का परमार्थ पात्रों के निमित्त नहीं, पाठकों के लिये है। ‘पदमावत’ का एक पात्र जब किसी दूसरे अथवा किसी भी पदार्थ के प्रति अपना भाव व्यक्त करता है तो उसका उसके प्रति वही भाव होता है, उसमें किसी प्रकार के पारलौकिक संकेत का भान उसे नहीं होता। परमार्थ की भावना तो पाठक के हृदय में उठती है। पाठक ही यह समझता है कि कवि इसके भाव को जो रूप दे रहा है उसकी इति पिछ में ही नहीं होगी, अपितु वह ब्रह्मांड में भी फैल जाती है। जायसी पिछ के द्वारा ब्रह्मांड की स्थिति को दिखाना चाहते हैं और यह बताना चाहते हैं कि जिस किसी का जिस किसी के प्रति जो कोई भाव होता है वस्तुतः उसका संकेत किसी सामाजिक के चित्त में परम संकेत का विधान करता है। सारांश यह कि जायसी का आशय अपने भावों को अपने आत्ममन के प्रति इस प्रकार प्रकट करता है कि हम जीवों के हृदय में वह अच्चात्म का रूप धारण कर लेता है।

अर्थात् यह परमार्थ किसी पात्र में नहीं होता, हाँ, किसी पात्र की भावना में इसकी व्यंजना अवश्य होती है। तात्पर्य यह कि आत्मबल में ही परमात्मा व्यंग्य होता है किसी पात्र विशेष में नहीं। यही कारण है कि 'पदमावत' में इस परमार्थ की व्यंजना केवल रत्नसेन और पदमावती के प्रेम प्रसंग ही में नहीं, सभी प्रसंगों में हुई है। इसका कुछ विचार 'पदमावत का परमार्थ' शीर्षक निबन्ध में किया गया है, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, में 'विचार-विमर्श' के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

जायसी के इस लक्ष्य में सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण हिन्दी समार में उनकी बड़ी दुर्गति हुई है और 'पदमावत' भी गदबदसाते की पोथी बन गई है। अतः इसके सम्बन्ध में शोषा और विचार कर लेना अच्छा होगा। जायस नागमती को दुनिया धन्धा कहते हैं और अछाउद्दीन को माया। पश्चिनी के प्रेम में रत्नसेन ही नहीं पड़ते अछाउद्दीन भी उसे चाहता है। यदि रत्नसेन पश्चिनी की प्राप्ति के लिये मिथल की यात्रा करते हैं तो अछाउद्दीन भी दल-बल के साथ चित्तौड़ छोड़ देता है। बात तो यही है किन्तु दोनों की भावना में भेद है, साधना में अन्तर है। यही नहीं, दोनों के गुरु भी भिन्न भिन्न प्रवृत्त के हैं। जायसी ने एक को गुरु कहा है तो दूसरे को पीतान। रत्नसेन का नेता 'हीरामन' मुभा है, परन्तु अछाउद्दीन का नेता राघवचैतन पीतान। कहा जाय तो कार्य का दृष्टि से कह सकते हैं कि रत्नसेन अपने कार्य में सफल होता है और अछाउद्दीन असफल। 'पदमावत' का पृथार्थ रत्नसेन का प्रयत्न है तो उसका उत्तरार्थ अछाउद्दीन का। नागमती और पद्मावती की भा कुछ यही स्थिति है। नागमती अरन पति के लिये तड़पती तो है पर कुछ करता नहीं उसे बुझती है पर छुड़ाता नहीं। हाँ, इतना अवश्य करती है कि पद्मावती के आने पर उसमें जगड़ता है पर रत्नसेन के समझा देने पर मान्य हो जाता है और अन्त में सारा मनधुटाब मिटाकर सती होती है पश्चिनी के साथ ही।

जायसी ने नागमती को जो दुनिया धन्धा कह दिया है उसमें दुनिया-धन्धा की उपेक्षा नहीं है। उसमें तो यह दिखाया गया है कि जो दुनिया-धन्धा में ही

इस प्रकार देवोपासना व्यर्थ गई। योग का परिणाम भी सम्मिलन किंवा सम्भोग नहीं हुआ। निदान रत्नसेन का निश्चय है—

‘पाएउँ नहिं होइ जोगी जती । अब सर चढ़ौं-जरौं जस सती ॥

आइ जो पीतम फिरि गा, मिछा न आइ वसंत ।

अब तन होरी घालि कै, जारि करौं भसमंत ॥ ६ ॥

—पृष्ठ १०० ।

बस, यही वह ‘अपनास’ है जिससे प्रियतम की प्राप्ति होती है और प्रेम ही वह मार्ग है जिससे शाश्वत सम्भोग प्राप्त होता है। जायसी ने इसको किस प्रकार ‘पदमावत’ में चरितार्थ किया है इसका भी अनुसन्धान हो जाना चाहिये। जो जोग पद्मिनी को परमात्मा और रत्नसेन को जीवात्मा का प्रतीक मानते हैं, वे उतावली में कुछ का कुछ समझ लेते हैं। जायसी ने तो उपसंहार में खोछ कर कह दिया है कि पद्मिनी बुद्धि और रत्नसेन मन है फिर हम इनको परमात्मा और जीवात्मा का प्रतीक क्यों मानें ?

विचारणीय बात तो यह है कि जायसी ने ‘पदमावत’ में सब कुछ तो कहा पर यदि नहीं कहा तो जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक को। इसका कारण भी है। ‘पदमावत’ का परमार्थ पात्रों के निमित्त नहीं, पाठकों के लिये है। ‘पदमावत’ का एक पात्र जब किसी दूसरे अथवा किसी भी पदार्थ के प्रति अपना भाव व्यक्त करता है तो उसका उसके प्रति वही भाव होता है, उसमें किसी प्रकार के पारलौकिक संकेत का भान उसे नहीं होता। परमार्थ की भावना तो पाठक के हृदय में उठती है। पाठक ही यह समझता है कि कवि इसके भाव को जो रूप दे रहा है उसकी इति पिछ में ही नहीं होती, अपितु वह ब्रह्मांड में भी फैल जाती है। जायसी पिछ के द्वारा ब्रह्मांड की स्थिति को दिखाना चाहते हैं और यह बताना चाहते हैं कि जिस किसी का जिस किसी के प्रति जो कोई भाव होता है वस्तुतः उसका संकेत किसी सामाजिक के चित्त में परम संकेत का विधान करता है। सारांश यह कि जायसी का आशय अपने भावों को अपने आलम्बन के प्रति इस प्रकार प्रकट करता है कि हम जीवों के हृदय में वह अस्वात्म का रूप चारण कर लेता है।

अर्थात् यह परमार्थ किसी पात्र में नहीं होता, हाँ, किसी पात्र की भावना में इसकी व्यंजना अवश्य होती है। तात्पर्य यह कि आत्मबल में ही परमात्मा व्यंग्य होता है किसी पात्र विशेष में नहीं। यही कारण है कि 'पदमावत' में इस परमार्थ की व्यंजना केवल रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम प्रसंग ही में नहीं, सभी प्रसंगों में हुई है। इसका कुछ विचार 'पदमावत का परमार्थ' शीर्षक निबन्ध में किया गया है, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, में 'विचार-विमर्श' के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

जायसी के इस लक्ष्य में सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण हिन्दी-संसार ने उनकी बड़ी दुर्गति हुई है और 'पदमावत' भी गड़बड़ाते की पोथी बन गई है। अतः इसके सम्बन्ध में थोड़ा और विचार कर लेना अच्छा होगा। जायसी नागमती को दुनिया-धन्धा कहते हैं और भलाउद्दीन को माया। पद्मिनी के प्रेम में रत्नसेन ही नहीं पड़ते भलाउद्दीन भी उसे चाहता है। यदि रत्नसेन पद्मिनी की प्राप्ति के लिये सिधल की यात्रा करते हैं तो भलाउद्दीन भी दल-बल के साथ चित्तौड़ को घेर दबाता है। बात तो यही है किन्तु दोनों की भावना में भेद है, साधना में अन्तर है। यही नहीं, दोनों के गुरु भी भिन्न भिन्न प्रवृत्ति के हैं। जायसी ने एक को गुरु कहा है तो दूसरे को गैतान। रत्नसेन का नेता 'हीरामन' सुभा है, परन्तु भलाउद्दीन का नेता राघवचैनन शैतान। कहा चाहें तो कार्य की दृष्टि से कह सकते हैं कि रत्नसेन अपने कार्य में सफल होता है और भलाउद्दीन असफल। 'पदमावत' का पूर्वार्ध रत्नसेन का प्रयत्न है तो उसका उत्तरार्ध भलाउद्दीन का। नागमती और पद्मावती की भी कुछ यही स्थिति है। नागमती अपने पति के लिये तड़पती तो है पर कुछ करती नहीं उसे खुशती है पर छुड़ाती नहीं। हाँ, इतना अवश्य करती है कि पद्मावती के आने पर उससे झगड़ती है पर रत्नसेन के समझा देने पर शान्त हो जाती है और अन्त में सारा मनमुटाव मिटाकर सती होती है पद्मिनी के साथ ही।

जायसी ने नागमती को जो दुनिया-धन्धा कह दिया है उसमें दुनिया-धन्धा की उपेक्षा नहीं है। उसमें तो यह दिखाया गया है कि जो दुनिया-धन्धा में ही

मग्न रहा वह बच नहीं सकता । संसार से मुक्ति पाना है तो बुद्धि का सेवन करो । सद्गुरु के बताये मार्ग पर चलो और बाहु-बल की अपेक्षा हृदय बल को महत्व दो । बुद्धि की प्राप्ति हो जाने पर विराग लेने की आवश्यकता नहीं । दुनिया-घन्घा को छोड़ कर कहीं एकान्त में तप साधना जायसी जा पक्ष नहीं । जायसी की साधना लोक और परलोक का समन्वय चाहती है किसी की अवहेलना नहीं । यही कारण है कि जायसी 'पदमावत' के अन्त में दुनिया-घन्घा, मन, और बुद्धि को एक ही में मिला देते हैं और उनकी मिळी-जुळी ज्योति की छटा दिखा कर सबको उसी ओर बढ़ने का निर्देश करते हैं ।

नागमती की मूर्ति ही अलाउद्दीन का रूप भी कुछ लोगों को खटकता है । कदाचित् इसका कारण यह है कि ये लोग माया का अर्थ नहीं समझते । जायसी ने माया का प्रयोग ऐश्वर्य के अर्थ में किया है, कुछ वेदान्त की माया के अर्थ में नहीं । अलाउद्दीन यदि वेदान्त की माया का प्रतीक होता तो उसे किसी शैतान राक्षसचेतन की आवश्यकता क्यों पड़ती ? राक्षसचेतन के सम्बन्ध में भूलना न होगा कि वह सदा रत्नसेन के साथ रहा । जायसी कहते हैं—

‘राक्षस चेतन चेतन महा । आऊ सरि राजा पहुँ रहा ॥

चित चैता, जानै बहु मेऊ । कबि बियास पंडित सहदेऊ ॥

बरनी आइ राज कै कथा । पिंगल महुँ सब सिंघळ मथा’ ॥

—पृष्ठ २२८ ।

किन्तु तो भी सिंघळ की यात्रा में कहीं उसका दर्शन नहीं होता । उसका दर्शन तो तब होता है जब रत्नसेन पद्यावती को प्राप्त कर अपने आसन पर आ विराजते हैं और सद्गुरु सुभा का लोप हो जाता है । सच है, सद्गुरु और शैतान साथ साथ अपना पन्थ नहीं दिखा सकते । सद्गुरु ने अपना काम कर दिया अब शिष्य का काम है कि वह अपने आप को पूर्ण करे । किन्तु शिष्य का उद्धार तभी हो सकता है जब गुरु उसे प्राज्ञ बना दे । अथवा यह कहिये कि लसकी रक्षा के हेतु उसे प्रज्ञा की उपलब्धि हो जाय । प्रज्ञा प्राप्त हो जाने पर

साधक यदि साधना में सावधान नहीं रहा तो वह प्रलोभन में पड़ेगा और विभूतियों में इस प्रकार बिर जायगा कि फिर प्रज्ञा के द्वारा ही उसका उद्धार होगा। रत्न-मेन राघव चेतन को समझता नहीं, उसकी शक्ति को पहचानता नहीं। उसे देश-निकाळा देता है और उसके प्रयत्न से जब भलाउद्दीन आ घेरता है तब पहले तो उससे युद्ध ठानता है पर जब वह भैंति-भैंति की हरियाली दिखाता है तब किसी का समझाना-बुझाना नहीं मानता और अपने आप उसके चंगुल में फँस जाता है। योग की साधना में इसे ही अन्तराय अथवा सिद्धियों के फेर में पड़ना कहते हैं और यदि इसे योग के रूप में ही कहना चाहें तो कहना होगा कि रत्नसेन चित्त वृत्ति-निरोध को छोड़ कर चित्त वृत्ति विज्ञान में मग्न हो गया। जिसका परिणाम हुआ पतन। इस पतन से उसका रक्षा हुई बुद्धि के द्वारा—रघिना के प्रयत्न से ही।

‘पदमावत’ की मीमांसा की इस भूमि में पहुँच कर देखना यह होगा कि जायसी के इस विधान से क्या में कोई दोष तो नहीं आ गया। कहना न होगा कि जिन लोगों ने ‘पदमावत’ में कथा और अध्यात्म का घरळा देखा है उन्होंने देखने का ढंग सुचारू-रूप से नहीं सीखा। जायसी सम्भवतः जानते थे इसीलिये तो उन्होंने उपसंहार में इसका निर्देश किया और पंडितों की दुहाई दी—‘मैं यह अरथ पंडितन्ह बूझा’। सचमुच, जायसी का यह परमार्थ पंडितों को ही सूझ पड़ेगा। उन्हीं की समझ में यह समा सकेगा जो रिंढ में ब्रह्मांड देखना जानते हैं और जानते हैं ‘परकाया परवेश’। अर्थात् जो दूसरे की बात समझते हैं, और किसी के साथ तादात्म्य करना जानते हैं।

कथावस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो ‘पदमावत’ की कथा में कल्पना भी है, इतिहास भी। कल्पना का आधार इतिहास है तो इतिहास में कल्पना भी है। ‘पदमावत’ का पूर्वार्ध कल्पना का परिणाम है और यह कल्पना हुई है साधना की दृष्टि से। यहाँ रत्नसेन राजा नहीं साधक है। इसमें जो योश बहुत इतिहास है उस पर कवि का ध्यान नहीं। कवि का ध्यान है—‘बार बसेरे ली चढ़े सव

सौ उतरे पार'। परन्तु 'पदमावत' के उत्तरार्ध में कवि का ध्यान इतिहास पर है। यह बात दूसरी है कि उसमें भी यत्र-तत्र कल्पना का पुट है जिसका कारण है अपनी साधना को ठीक करना। पूर्वार्ध में यदि पाँच नगों की बात न आती तो उससे उत्तरार्ध की कोई संगति न बैठती। उन्हीं के कारण दोनों अंगों में मेल दिखाई देता है और ऐसा जान पड़ता है कि यदि वैसा न हुआ होता तो ऐसा न होता।

जायसी ने रत्नसेन के प्रेम को परखने का प्रयत्न किया है। पूर्वार्ध में हम देखते हैं कि साधक रत्नसेन की परछाया पार्वती करती है और करनी है समुद्र की गेटी लक्ष्मी भी। उत्तरार्ध में हम देखते हैं कि पद्मिनी के सतीत्व की परीक्षा होती है दूतियों के द्वारा। रत्नसेन के अभाव में दूती आती है देवपाल की और आती है बादशाह की भी। अकाल-दीन की दूती देवपाल की दूती से भिन्न है। वह जोरिनी के वेश में आती है और पद्मिनी को भ्रममाना चाहती है। देवपाल की दूती पद्मिनी की नैहर की हितैषिणी ब्राह्मणी बन कर आती है और फलतः उसे छलना भी गहरे में चाहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पद्मिनी की इस परीक्षा में रत्नसेन की वह परीक्षा भी अपना गुण दिखाती है और दोनों के सम प्रेम को स्पष्ट करती है।

देवपाल का प्रसंग यों ही नहीं टटा है। इससे काम भी सुदरा लिया गया है। एक तो राजपूनी आन और राजपूनी द्वन्द्व के लिये और दूसरा यह कि इस प्रकार की नीच चेष्टा मुसलमान ही नहीं हिन्दू भी करते हैं। देवपाल की दूती का महत्त्व अनेक दृष्टियों से है। जायसी ने इसमें बहुत कुछ भरा है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से ही। जायसी ने देवपाल के प्रसंग के द्वारा प्रबन्ध की बहुत सी कठिनाइयों को दूर किया है और अन्त में रत्नसेन के निधन का कारण भी उसका द्वन्द्व-मुद ही बनाया है। रत्नसेन चक बसा पद्यावती उत्तको लेकर सती हुई। नागमर्त्री ने उसका साथ दिया। रत्नसेन की ज़िबन बीजा समाप्त हुई, किन्तु बादशाह को क्या भिन्ना ? मुही भर छार। जायसी लिखते हैं—

“वै सरगवन भईं जब जाई । बादसाह गढ़ छेका भाई ॥
 तौ लगि सो अवसर होइ बीता । भए अलोप राम भौ माना ॥
 आइ साह जौ सुना अल्वारा । होइगा राति दिवस उजियारा ॥
 छार उठाइ लीन्ह एक मूठी । दोन्हि नकाह, पिरषिमी झूठी ॥
 सगति बटक नटाई भाटी । पुठ बंधा जह जह गढ़ पागी ॥
 जौ लहि ऊपर छार न परे । तौ लहि यह तिमना नहि मरे ॥
 भा धावा, भइ जूस असूसा । बादल आइ पंखरि पर जूसा ॥
 जोहर भई मय इमिरी, पुरख भए संग्राम ।
 बादसाह गढ़ चुगा, चितउर भा इसलाम ॥”

—पृष्ठ ३४० ।

‘चितउर भा इसलाम’ में जायसी ने क्या कहा है; इसको कहने की आवश्यकता नहीं । कहना तो यह है कि अलौकिक के इसलाम होने से अलउद्दीन को तृप्ति नहीं हुई । उनको तो यह सूझ रहा कि इस पुरुष में निद्रा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । अलउद्दीन ने अपने जीवन में इसमें क्या पाठ पढ़ा इसको इतिहास के प्रेमी खूब जानते हैं । परन्तु जायसी इसमें क्या पढ़ाना चाहते हैं यह भी किसीसे छिपा नहीं है । जायसी ने उसे भी उपसंहार में उधार कर रख दिया है ।

जायसी ने अपनी प्रेम-कथा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह है—

‘सिक्क दीर पदमिनी रानी । रतनमेन चितउर गढ़ भानी ॥
 अलउद्दीन देहकी मुठनानु । राखी खेतन कीन्ह बनान ॥
 सुना साहि गढ़ छेका भाई । हिंदू गुरकन्ह भई लाई ॥
 आदि भत जस गाथा अहे । लिखि भावा जोवाई कहे ॥
 कवि बियास कंबका रसपुरी । दूरि सो नियर नियर का दूग ॥
 नियरे दूर फूठ जस काटा । दूरि जो नियरे जस गुह बाटा ॥

भँवर आह बनलैंड सन, लेह कँवल के बास ।
दादुर बास न पावई, भलहि जो आछै पास ॥'

—पृष्ठ ११ ।

जायसी के इस कथन से कहीं रंच भर भी ध्वनित नहीं होता कि जायसी ने इसमें अपना भी कुछ जोड़ा है ।

‘आदि अंत जस गाया अहे । लिखी भाला चौपाई कहे ।’

के अर्थ में तो कोई द्विविधा नहीं पर ‘कवि बियास ... आछै पास’ का संकेत क्या है । क्या कवि इसे अपने तथा अपनी रचना पर घटाना चाहता है ? कुछ लोग ऐसा भी सोच सकते हैं । किन्तु प्रतीत तो यह होता है कि कवि इसके द्वारा यह व्यक्त करना चाहता है कि यहाँ कवि भी एक से एक बढ़ कर हुये हैं और यह क्या भी रस से भरी पड़ी है । फिर भी किसी कवि से बन न पड़ा कि इस कथा को काव्य का रूप दे । यह कार्य तो मुझ जैसे अहिन्दू के द्वारा हुआ । एक बात और है । इसमें सहायता के हेतु ‘गौरा पारबती’ का आना और इसके लिये महा-देव जी को प्रेरित करना इस बात का प्रमाण है कि यह यहाँ की प्रचलित ठेठ कथा-प्रणाली को लेकर चल रही है और इसमें—

‘जिनि काहु कहैं होह बिछोऊ । जस वै मिले मिलै सबकोऊ ॥’

को जो मंगल कामना आ गई है वह भी उसी परम्परा में है । यह कथा कहीं भी जाती है आज भी अवध के गाँवों में । तो क्या यह कहना उचित न होगा कि जायसी को एक बनी बनाई कथा मिली और उसमें उन्होंने अपनी आत्मा डाल दी ।

‘पदमावत’ में एक प्रकार की और भी कथा आ जाती है जिसको हम ‘पदमावत’ में प्रवेशक वा विष्कम्भक के रूप में पाते हैं । जायसी ने ऐसी कथा को भी खंड का नाम दिया है । परिणाम यह हुआ है कि कोई कोई खंड इतना छोटा हो गया है कि केवल नौ पंक्तियों का होता है और कोई अठारह पंक्तियों

का । इनमें कहना कुछ नहीं होता, बस बताना मर रहता है कि इसी बीच में यह हो गया । रत्नसेन-जन्म-खंड, रत्नसेन-साथी-खंड, रत्नसेन-संतति-खंड इसी टग के हैं । इनमें भी रत्नसेन-संतति खंड का तो कथा-प्रबन्ध में कोई उपयोग नहीं । इसे कथा-वस्तु की दृष्टि से जानकारी की वस्तु समझना चाहिये ।

‘पदमावत’ में इस जानकारी की प्रवृत्ति अथवा सब कुछ लिख देने की प्रेरणा से व्यापात भी कम नहीं पड़ा है । वस्तु की दृष्टि से, रस की दृष्टि से, नेता की दृष्टि से, अध्यात्म की दृष्टि से, सभी दृष्टियों से इसी प्रवृत्ति के कारण ‘पदमावत’ में जहाँ-तहाँ छुटि आ गई है, अभाव के कारण नहीं, अति भाव के कारण । जायसी ने ‘पदमावत’ की रचना ‘मकु यह रहै जगत मई चीन्हा’ की दृष्टि से भी की है । फलतः उसमें बहुत से ऐसे चिन्ह आ गये हैं जिनकी इस प्रेम-कथा में कोई ऐसी आवश्यकता न थी, किन्तु इसका अर्थ यह न समझना चाहिये कि जायसी की इस प्रवृत्ति से कहीं कुछ काम ही नहीं हुआ है । नहीं, ऐसा नहीं है । जानकारी के किये ‘पदमावत’ में जो बातें दी गई हैं, समय के अध्ययन के लिये उनकी आवश्यकता अनिवार्य है । इस दृष्टि से देखा जाय तो जायसी का यह दोष भी गुण में ही परिणत होगा । जायसी तक ही यह बात नहीं रह जाती । उस समय के सभी प्रबन्ध-काव्यों में यह वृत्ति दिखाई देती है । वहाँ तक कि राम-चरित मानस जैसा प्रौढ़ काव्य भी इसकी लपेट में आ जाता है । आत्म-विज्ञापन राम चरित-मानस में नहीं है परन्तु समय-समय पर स्थान-स्थान पर जो उसमें उपदेश आते रहे हैं उनकी संख्या ग्यून नहीं है । हाँ, गोस्वामी तुलसीदास ने इतना अवश्य किया कि उन्होंने कहीं किसी शब्द को लेकर उसके अर्थ का गुण-गान नहीं किया है । जायसी ने ऐसा बहुत किया है । ‘दिया’, ‘ऊँच’, ‘प्रीति’, ‘साँच’, और ‘पानी’ आदि शब्दों पर पूरा व्याख्यान ही दे डाला है । ‘ऊँच’ पर दिया गया व्याख्यान तो प्रसंग के भीतर लप जाता है उससे रत्नसेन के उत्साह का उत्कर्ष होता है और साथ ही पाठक को उपदेश भी मिल जाता है ।

लीजिये—

‘राजे कहा दरस बी पावौ । परबत काह, गगन कई जावौ ॥

जेहि परबत परदरसन कहना । सिर सौ चढ़ौ, पाँव का कहना ॥
 मोहूँ भावै ऊँचै ठाऊँ । ऊँचै लेउँ पिरितम नाऊँ ॥
 पुरुषहि चाहिय ऊँच हियाऊ । दिन दिन ऊँचै राखै पाऊ ॥
 सदा ऊँच पै सेह्य बारा । ऊँचै सौ कीजिय बंधारा ॥
 ऊँचे चढ़े, ऊँच खँड युसा । ऊँचे पाम ऊँच मात बूसा ॥
 ऊँचे सँग संगति निति कीजै । ऊँचे काज जाँउ पुनि दोजै ॥

दिन दिन ऊँच होह मो, जेह ऊँचे पर नाउ ।

ऊँचे चढ़त जो खसि परै ऊँच न छोड़िय काउ' ॥ ५ ॥

—पृष्ठ ७८-९ ।

जायसी यदि एक दो म्यथी पर ही ऐसी छटा दिखा कर रह जाने की कोई बात न थी । इससे इतना तो होता कि एक ढंग का परिचय प्राप्त हो जाता । परन्तु उन्होंने ऐसा किया नहीं । बादशाह भोज खड में भोजन बनाने की जो विधि और भोज्य पदार्थों का जो विवरण दिया गया है एक तो बड़ा जा उबाने के लिये पर्याप्त था, दूसरा उसके उपरान्त जायसी पानी के इन पचड़े को लेकर सामग्री आये और अपनी शोक में दूध और घा को भी पानी बना दिया । देखिये—

‘जत परकार रमोह बलानी । तत सब भई पानि सौ मानी ॥
 पानी मूत्र, पखिल जी काई पाना बिना सवाद न होई ॥
 अमृत पान यह अमृत माना । पाना भो घट रही पराना ॥
 पानी दूध औ पानी पीऊ । पानी घटै, घट रही न जीऊ ॥
 पानी मोक्ष समानी कोती । पानिहि उपजै मानिक मोती ॥
 पानिहि सौ सब निरमल कला । पानी छुए होह निरमल ॥
 सो पानी मन गरब न करई । सीस नाह लाले पग धरई ॥

मुहमद नीर गभीर जो भरे सो भिने समुद ।

भरे ते भारी होइ रहे छूँछे नागहि दुद ॥ ११ ॥

—पृ० २८२ ।

निम्नच ही जायसी की 'पदमावत' में जायसी की साधना है, जायसी का भिन्नान्त है, जायसी का साहित्य है, जायसी का मुभाषित है और है जायसी का मसार भी । जायसी के मस्कार के साथ ही साथ इसमें जायसी की मन्थना और जायसी की साध भी है । जायसी के अभ्ययन में 'पदमावत' का जो महत्त्व है वह तभी प्रकट हो सकता है जब हम उसके परिशीलन में इन सभी बातों को अपने सामने रखें और बराबर यह देखने लें कि उनका उपदेश कहाँ से उठता, कहाँ बैठता और किसमें घर करता है । जायसीने अपने आपको 'पदमावत' में डाल दिया है, इसमें सन्देह नहीं । और सन्देह नहीं उनकी इस रचना-विदग्धता में ।

हिन्दी के प्रमुख-कवियों में 'पदमावत' की जो प्रतिष्ठा है वह किसी ने छिपी नहीं है । और न ही किसी की श्रद्धा में दोषलक्ष है कि जायसी अपने ढंग के निराळे और अनूठे कव हैं । जायसी ने कहा नहीं, कवि कर्म किया है । उन्होंने लिखा नहीं, रचा है । निदान, उनकी रचना भी काव्यमय हुई है । जायसी ने हम पर ध्यान दिया, अलंकार को अपनाया, चमत्कार का विधान किया, पर यदि कुछ नहीं किया तो पिगल में । इतने बड़े काव्य में केवल दो छन्दों का प्रयोग किसी मसनवी—भक्त का भजे ही न लटके, किन्तु कोई महाकाव्य का अभ्यासी जीव तो इसको सह नहीं सकता । सभी भावों की व्यञ्जना एक ही छन्द में करना अपने हृदय के उल्लास को एक बेंची-बेंचाई पटरी पर बाँध कर दोषाना है । उनकी कालस-कल्लोल-लहरियों का उन्मुक्त आनन्द लेना नहीं । पिगल की दृष्टि में 'पदमावत' में कुछ करने सुनने का है ही नहीं, बस देखते रहने का है । फिर भी जायसी ने इतना अच्छा किया है कि केशवदास की भाँति 'बहु-छन्द' की शोभा में भी नहीं पड़े हैं और उन्हीं छन्दों को अपनाया है जो प्रबल-बारा में देखे जाये

सिद्ध छंद थे। जायसी ने चौपाई और दोहा के साथ ही साथ 'अल्लरावट' में सोरठा को भी अपनाया है। सोरठा दोहा से इतना भिन्न नहीं कि उसे हम कुछ और ही मान लें। फ्रांसीसी पंडित गांसी दि तासी का कहना है कि कम्पनी सरकार के पुस्तकालय में जायसी के कुछ पद भ्रष्ट गीत भी थे। रहे हो, अभी तक तो उनका प्रकाशन नहीं हुआ। उनके आधार पर उनके विषय में कुछ और कहा ही क्या जा सकता है।

अलंकारों की योजना जायसी की अच्छी और अपने लक्ष्य के अनुकूल हुई है। जायसी ने उत्प्रेक्षा को बहुत महत्व दिया है। जायसी की उत्प्रेक्षा ही प्रधान है। हेतुप्रेक्षा भी और फलप्रेक्षा भी। उत्प्रेक्षा में जायसी की सफलता है तो रूपक में उनकी विफलता। जायसीने रूपकको इस विचारसे मानो घर रक्खा या कि जहाँ कहीं उसको लाना हो, वीर और शृंगार को एक करने के लिए ही। जायसी का यह प्रयत्न ठीक वैसा ही रहा है जैसा महात्मा गांधी का राम-रहीम की एकता का। नायिकायें तो आपने भी बहुत देखी हैं और देखी होंगी, कोई रणचंडी नहीं तो कोपचंडी ही सही। उसी दृष्टि से रणभूमि में जाती हुई जायसी की भी एक नायिका को देख लीजिये और अपने लोचन-लाभ से वंचित न रहिये—

कहौं सिंगार जैसि वै नारी । दारू पियहिँ जैसि मतवारी ॥
उठै आगि जो छाँवहिँ सौंसा । धुआँ जो लागै जाइ अकासा ॥
सेकुर-आगि सीस उपराही । पहिया तरिवन खमकत जाही ॥
कुच गोला मुइ हिरदय लाए । अंचल धुजा रहहिँ छिटकाए ॥
रसना लूक रहहिँ मुख लोळे । लका जरै सो जनकै बोळे ॥
अलक जैजोर बहुत गिउ बाँधे । लीवहिँ हस्ती, टुटहिँ बाँधे ॥
वीर सिंगार दोउ एक ठाउँ । सजुसाक गढ़भंजन नाउँ ॥

तिलक पळीता माये, दसन बज्र के बान ।

जेहि हेरहि तेहि मारहि, चुरकुस करहि निदान ॥ १८ ॥

रणगामिनी इस नायिका को निकट से जानना हो तो एक दूसरी रणरोपनी नायिका को भी देख लीजिये—

‘जो तुम चहहु जूझ पिउ ! बाजा । कीन्ह सिँगार-जुझ मैं साजा ॥
 जोषन आह सौह होइ रोपा । बिलरा बिरह, काम-दल कोषा ॥
 बहेउ बीररस सेदुर मोंगा । राता रहिर लखग अस नोंगा ॥
 भौहैं धनुक नैन सर साधे । काजर पनच, बरुनि विष-बाँधे ॥
 जनु कटाळ स्यो सान सँवारे । नखसिख बान सेल अनियारे ॥
 अलक फाँस गिउ मेल असूझा । अघर अघर सौं आहहिँ जूझा ॥
 कुंभस्थल कुच दोउ मैमंता । पेलौ सौह, सँमारहु, कंता । ॥
 कोपि सिँगार, बिरह-दल टटि होइ दुह आप ।
 पहिले मोहिँ संग्राम कै करहु जूझ के साथ’ ॥ ७ ॥

—पृष्ठ ३२२-३ ।

जायसी ने जहाँ कहीं शृंगार को वीर का रूप दिया है इसी प्रकार की युक्ति से काम लिया है । जायसी सम्भोग शृंगार में तर्क-वितर्क और वाद-विवाद को जितना महत्व देते हैं उतना भाव, भावना और आवेश को नहीं । परिणाम यह होता है कि एक ओर तो उनके सम्भोग शृंगार में अवलीलता आ जाती है और दूसरी ओर उनके पात्र बहुत ही निम्न-कोटि के जीव दिखाई देने हैं । जायसी के इस उच्चार शृंगार से जितनी ही अरुचि होती है उतनी ही उनके विप्रलम्भ में रुचि । जायसी के बियोग बखन में एक ही छुट्टि दिखाई देती है सो भी दृष्टि-मेद के कारण । जो जाति मांस से दूर रहती है, और जो कभी किसी का रक्त बहना नहीं देख सकती वही जाति जायसी के प्रेम प्रसंग में जब मांस का भूना और रक्त का निकालना देखती है तब सिहर उठती है और फटगः उसका भी उसमें नहीं रहता है । उसको तो इसमें एक पेसी जुगुप्सा दिखाई देती है जो उचित स्थान

पर न होने के कारण बीभत्स रस की ओर भी नहीं ले जाती। जायसी की यह प्रवृत्ति उनके तुर्कपन का प्रभाव है। कुछ समझ, समय, सूझ का प्रतिफल नहीं। जहाँ कहीं जायसी इस झोंक में चचे हैं वहाँ उनका काव्य निखर उठा है और हिन्दी-साहित्य में अपना अमूढा पद प्राप्त कर सका है। जायसी के विरह वर्णन में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सामान्य मानव भाव-भूमि से उठता और विश्व में अपना रूप दिखाता जाता है। जायसी की प्रकृति उनके पात्र की प्रकृति में मिल जाती है और फिर वह फूट कर काव्य का रूप धारण कर लेती है। ऐसा स्थिति में जायसी प्रकृति के उसी रूप को लेते हैं जो उस समय प्रत्यक्ष गोचर होता है। जायसी की वियोग हाष्ट को देखना हो तो 'पदमावली' का 'नागमती वियोग खंड' देखना चाहिये। जायसी की भाव-धारा नागमती के वियोग में जमी बही है वैसे किसी प्रसंग में अन्यत्र नहीं। भादों में विरहिण की स्थिति क्या हो जाती है और प्रकृति में उसे क्या दिखाई देता है इसे भी देख लें—

‘भा भादों दूभर भलि भारी। कैसे भरो रैनि अघयारी ॥
मंदिर सुन पउ अनत पासा। मंज नागिना फिर फिर डसा ॥
रहो अकेलि गह एक पाटी। नैन पमारि भरो हिय फाटी ॥
चमक बीजू, चन गरजित रासा। विरह काल होइ जीउ गरासा ॥
बरसे मवा सकोरि सकोरी। मोर दुइ नन चुवै जम भोरी ॥
धान सुखे भरे भादों भाई। अबहुन आएन्हि सोचेन्हि नाहा ॥
पुरवा काग भूमि जळ पूरी। आक जबास भई तस झूरी ॥

यक जळ भरे अपूर सर, धरति गगन मिलि एक ।

धान जोवन अवगाह मई, वे बूझत पिउ ! टेक ॥ ६ ॥

—पृष्ठ १०६ ।

विश्व-विख्यात भाषा-मनीषी स्वर्गीय सर आर्ज प्रियर्सन महोदय ऐसा ही प्रब-
लित बोल-बाक की ठेठ भाषा को देख कर यह निष्कर्ष निकाल सके थे कि आर्यावर्त की

टेठ भाषा में भी उच्च से उच्च भावों को व्यक्त करने की क्षमता है। जायसी ने इसमें अपनी जानकारी से भी काम लिया है। ठीक दृंग से, ठीक अवसर पर। मघा और पुरबा से जो कार्य लिया गया है वह कितना सटीक और सफल है। वर्षा ऋतु में आक जवास का बिना पात का हो जाना तो कवि-परम्परा में है ही। किन्तु यहाँ जायसी ने उनसे जो काम लिया है वह प्रस्तन के कितना निकट है। भरे भावों में वही नहीं और भी कोई मूल्य कर सूर हो जाता है। इस भावों की अंधेरी रात में उसके जी पर जो बीतती है ओ तो है ही। जः वह देखती है कि घरती और गगन भी इस ऋतु में मिल कर एक हो गये हैं तब इसका अर्थ कि उसे कुछ और दिखाने नहीं देता कि वह अपनी उमरकी हुई आगना बटुवती हुई अपनी रक्षा के हेतु प्रिय की पुकार करे। उसकी यह पुकार प्रिय के कान में पड़े और वह तटस्थ रहे यह असम्भव है। यही नहीं, जायसी का यह चरहम सा साहित्य क्षेत्र में अकेला ही है। इस की जोर का कोई दूसरा विरह वर्णन नहीं। नागमती का बरुणा करके रोना व्यर्थ नहीं गया। उसने तो प्रकट दिखा दिया कि उसकी वेदना में विश्व विदीर्ण हो उठा है—

कुटुकि कुटुकि जस कोइल गोई । रक्त-भ्रंशु घुंघुचा बन भोई ॥
 भइ करमुखा नैन तन राती । को मेराव ! विरहा-दुख ताती ॥
 जहँ जई टाढ़ि होई बनबासी । तहँ तहँ होइ घुंघुचा के रासी ॥
 बूँद बूँद महँ जानहुँ जीऊ । गुंजा गुंजा करे 'पिउ पीऊ' ॥
 तेहि दुख भए पराम निपाते । लोहू बूबि उठे होइ राते ॥
 राने बिब भीजि तेहि कोहू । परवर पाक, फाट हिय गोहूँ ॥
 देखौ जहाँ होइ सोइ राता । जहाँ मोरतन कहै को बाता ॥

नहिं पावम ओहि देसरा, नहिं हेवन बसंत ।

ना कोबिल न पवीदग, जेहि सुन आवे कन ॥ १९ ॥

—पृष्ठ १८० ।

नागमती का यह विरोग किसी मानव के कान में पड़ा वा नहीं यह हम नहीं कहते। कहना तो हम यह चाहते हैं कि नागमती के इस विषय से पूरी

बिक्क हो उठे और अंग में एक बिहंगम पसीज कर उसकी वेदना को पूछ ही तो बैठा। उससे उसने जो कुछ कहा वह हिन्दू जाति की सच्ची अनुभूति का सार है। कहती हैं—

हमहुँ बियाही सँग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जानु पर-जीऊ ॥

अबहुँ मया कर, कर जित फेग। मोहिँ जियाउ कत देह मेरा ॥

मोहिँ भोग सौँ काज न, बारी। सौँह दीठि कै चाहन हारी ॥

सबति न होमि नूँ बैरिनि, मोर कत जेहि हाथ।

आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ ॥ ३ ॥

—पृष्ठ १८२।

और यह तो हृदय की बात ठहरी। आन तो कुछ और ही कराती है। उपदेशी मुग्धा उपदेश देकर रत्नसेन को ले गया तो दयालु बिहंगम ने दया करके उसे नागमती का सन्देश भी सुना दिया। रत्नसेन आया और प्रसन्न मुख से कुछ कहा चाहा तो ममभरी बाणी में उत्तर मिला—

काहैं सौ तुम मोसौँ, किएउ और सौँ नेह।

तुम्ह मुख चमकै बीजुरी, मोहिँ मुख बरिमे मेह ॥ ७ ॥

—पृ० २१०।

यह आह यही तक नहीं रही, धीरे धीरे इसका परिणाम यह हुआ कि पद्मावती और नागमती में ठन गई और अन्त में राजा रत्नसेन को यह उपदेश देना पड़ा—

‘एक बार जेह पिय मन बूझा। सो तुमरै सौँ काहे क जूझा ? ॥

अस गियान मन आवन कोई। कबहुँ राति, कबहुँ दिन होई ॥

धूँ छौँह दोउ पिय के रगा। दूनी मिली रहहि एक संग ॥

जुझ छौँहि अब बूझहु दोऊ। सेवा करहु सेव-फल होऊ ॥

गग जमुन तुम नारि दोउ, लिला मुहम्मद जोग।

सेव करहु मिळि दूनी तो मानहु सुख भोग ॥ १३ ॥

—पृ० २२५।

बस, नागमती सचेत हो उठी और अन्त में पद्मावती के साथ—

‘लेह सर ऊपर लाट बिछाई । पौढ़ी दुवो कत गर जाई ॥

लागी कठ आगि देह होरी । छार भई जरि, अग न मोरी ॥

राती पिउ के नेह गई, सरग भएउ रतनार ।

जो रे उवा, सो अथवा ; रहा न कोह संसार ॥’ ३ ॥

—पृ० ३४० ।

जायसी ने यह क्या किया ! यही न कि स्वर्ग को भी रत्नमय कर दिया । फिर इसे हम दुःख की दृष्टि से क्यों देखें । जो हुआ सो गया । उसके जाने का चिन्ता क्या ! पर जो कुछ कर गया और जैसे गया वह इतना अद्भुत, पावन और प्राणप्रद है कि हम उसकी आभा में अपना मार्ग बना सकते और स्वर्ग को रत्नमय कर सकते हैं । ‘कार्य’ में न तो पद्मावती असफल रही, न नागमती, और न रत्नमेन ही और यदि कोई असफल रहा तो अल्लाउद्दीन, राघव चेतन, कुमुदिनी और देवपाल ही । सारांश यह कि ‘पद्मावत’ का अन्त आनन्दमय रहा । नायक सफल हुआ, प्रतिनायक को मुँहकी खानी पड़ी और सूर्य दृष्टि से तो वह महामिलन हो ही गया । फिर दुःख की बात ही कहाँ रही !

‘पद्मावत’ में चार लख विशेष दृष्टि से लिखे गये हैं—सिंहद्वीप-वर्षान-खंड, नागमती-वियोग-खंड, देवपाल-दूती लख और गोरा बादल युद्ध खंड । इसमें से सिंहल का महत्त्व तो साधना का दृष्टि से है और नागमती वियोग का वेदना की दृष्टि से । रहे शेष दो उनमें से देवपाल-दूती-खंड तो तर्क-वितर्क, नोक-झोंक और काव्य की दृष्टि से लिखा गया है और गोरा-बादल युद्ध-खंड बीरता और राजपूत-दर्प के लिये । देवपाल की दूती कुमुदिनी किस प्रकार पद्मावती को पचना चाहती है और किस प्रकार तर्क पर तर्क उपस्थित कर नाना प्रकार के बुद्धि-बकास के द्वारा उसे जीत कर देवपाल के घर बसाना चाहती है, एवं उसकी इस नीच चेष्टा में अभिश हो किस प्रकार उसी तर्क से उसी रूप में पछिनी अपने आप को बचाती और अन्त में उसका नाक कान कटा मूँच मुका कर गदह पर लड़ा

उसका उचित सत्कार करती है, यह देखने ही योग्य है। अन्त में कुमुदिनी का पद्मिनी से यह कहना—

‘पद्मिनि ! पुनि मसि बोल न बैना । सो मसि देखु दुई तोरे नैना ॥
मसि सिगार, काजर सब बीजा । मसि कबुद तिल सोइ कपोला ॥
लोना मोह जहाँ मसि रेखा । मसि पुनः नहि तिन्ह मो जग देखा ॥
जो मसि पालि नयन दुहुँ लीन्हो । सो मसि फोग जाइ नहि कान्हो ॥
मसि-मुद्रा दुइ कुच उपराही । मसि रेखा जे कल भैवाही ॥
मसि बेगाइ, मास भौह उरेही । मसि अनुदसन सोइ नहि देहा ॥
सो कस सेत जहाँ मसि नाही । सो कम पिछन जेह परछाही ॥

अस देवपाल राय मसि, छत्र धरा भिर फेर ।

चितउर राज तिसरिगा, गएउ जो कुनलनेर ॥ १६ ॥

—पृष्ठ ३१० ।

मसि-पक्ष का कितना प्रबल, पुष्ट और व्यापक आरोप है। जायसा चाहते तो यहाँ पुरुष-सौन्दर्य का वर्णन भी कर सकत थे। प्रत्यक्ष नहीं तो रूपशाला-योसि के परोक्ष रूप में ही। परन्तु उन्होंने ऐसा कुछ किया नहीं—‘लोना मोह जहाँ मसि-रेखा।’ तथा ‘अस देवपाल राय मसि’ में ‘मसि’ के द्वारा यह व्यक्त अवश्य कर दिया कि देवपाल का चरित्रा दुई जवानी है। अभी मसि भन रहा है। उसने समझा था कि यही देवपाल का नाम लेने का अवसर है। सोचा तो ठीक था किन्तु सती को पहचानने में उससे भूल हुई। फलतः उसका विकट परिणाम भी भोगना पड़ा। पद्मिनी ने तो पहले ही उससे स्पष्ट कह दिया था—

‘रतन छुआ जिन्ह हाथन्ह सेती । और न छुयो सो हाथ सँकेती ॥

ओहि के रंग भा हाथ मै जीठी । मुकुना छेउँ तो छुँपची दीठी ॥’

—पृष्ठ ३०६ ।

किन्तु कुमुदिनी को इसकी दूर तक फौजी हुई गहरी, अत्यन्त ऊँची व्यञ्जना का बोध नहीं हुआ, वह नहीं समझ सकी कि मन से ही नहीं, शरीर और बह्वन

से भी यह तन रत्नसेन का इतना हो चुका है कि अब उस पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता। भला, जिस हाथ में जाने पर मुक्ता भी घुँपची का रूप धारण कर लेती है वह भला किसी के हाथ में कब पड़ सकती है और उसके रत्न की तुलना कौन कर सकता है ? जायसी का अलंकार विधान बहुत ही रम्य और प्रसंग के अनुकूल हुआ है। जायसी अप्रमृत्त की योजना में वहीं प्लू करने हैं जहाँ कुछ मनमेल को मेक में लाकर दिखाना चाहते हैं। अन्यथा छोटे छोटे रूपक भी उनके बहुत ही अच्छे हुये हैं। हाथी, घोड़ा आदि के चित्रण में भी जायसी को मन्ची सफलता मिली है। विरोध के रूप में जायसी ने अपने सिद्धान्त को भी जहाँ जहाँ दिखाया है।

जायसी की कथा, जायसी के काव्य और जायसी की साधना का भी योशा बहुत लेखा लग गया। अब जायसी के अध्यात्म अथवा प्रतिबन्धवाद को भी भी थोड़ा देखना चाहिए। जायसी ने अपने सिद्धान्त और अपनी साधना को 'अल्लरावट' में इस प्रकार खोद कर रख दिया है कि उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं। तो भी देखना यहाँ यह चाहिये कि उन्होंने इनका निर्वाह अपनी कथा में किस प्रकार किया है। सारी कथा का उन्होंने किस रूप में देखा है, इसको उन्होंने स्वतः कथा के उपसहार में कह दिया है और हमने उसका निर्वाह भी कथा में देख लिया है। सो, अब हमें उनके प्रतिबन्धवाद को देखना चाहिये। प्रतिबन्धवाद का आशय यह है कि यह जगत् तो दर्पणमात्र है। इसमें जो कुछ दिखाई देता है वह पर ब्रह्म का प्रातिबिम्ब ही है, जिसको हम देखते तो हैं पर अपना नहीं पाते। फलतः भला उद्दान सचेत हो कहता है—

‘देखि एक कोतक हो रहा। रहा अंतरपट, पे नहिं अहा ॥
 सरवर देख एक मै साई। रहा पानि, पे पान न होइ ॥
 सरव आह भरती मई छावा। रहा भरति, पे भरत न आवा ॥
 तिन्ह मई पुनि एक मंदिर ऊँचा। करन्ह अहा, पे कर न पहुँचा ॥
 तेहि मन्त्र मूर्ति मै देखी। निनु तन, निनु बिठ जाइ बिसला ॥

पूरन चद होइ जनु तपी । पारस रूप दरस तेहि छपी ॥

पृष्ठ—२९२-३ ।

जिस पारस रूप की झलक से अलाउद्दीन अन्धा हो गया और जिसके पाने के लिये भौंति भौंति से उपाय रचता रहा, उसी पारस रूप के प्रसाद से हुआ यह—

‘कहा मानसर चाह सो पाई । पारस-रूप हहाँ लगि आई ॥
 भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे । पावा रूप रूप के दरसे ॥
 मलय-समीर बास तन आई । भा सीतल, गे तपनि बुझाई ॥
 न जनौ कौन पौन लेह आवा । पुन्य-दमा भै, पाप गंवावा ॥
 ततल्लन हार बेगि उतिराना । पावा सखिन्ह चद बिहँसाना ॥
 बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा । भै तह ओप जहाँ जोह देखा ॥
 पावा रूप रूप जस चहा । ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा ॥
 नयन जो देखा कैवल भा, निरमल नर सरीर ।
 हँसत जो देखा हस भा, दसन-जोति नग हीर ॥ ८ ॥

पृष्ठ—२९-३० ।

जिस पारस रूप की छटा इस प्रकार प्रकृति में फैल गई है उसी की चिन्ता में वह छटा छन भी है । वह वियोग से जल रही है और अपने मूक में मिल कर हाँस लेना चाहती है । यही कारण है कि जायसी को जहाँ कहीं जिस किसी का वियोग मिळता है उसमें इसकी व्यंजना कर जाते हैं और अपने कथानक में वस्तु अपनी रहस्य-भाषना का ओष भी कर जाते हैं, जिसको किसी पात्र-विशेष में ही सीमित कर लोग भटक जाते हैं, भटक उठते हैं और जायसी पर तरह तरह के आक्षेप करते हैं । स्मरण रहे, जायसी किनोशी नहीं, बिकारी नहीं, बिरह-विदग्ध व्यक्ति हैं, उनको ज़ारो ओर वही बह दिखाई देता है जिसको पाने के हेतु उनका जी तड़पता है और जिसकी प्राप्ति के निमित्त ही उनको यह परिचान मिळा है जिसे धारीर कहते हैं । जायसी का प्रियतम कोई पात्र नहीं, प्रेमी का प्रिय है फिर

चाहे वह जिस किसी का जो कोई हो। जायसी उसमें अपना प्रियतम दूँद निहालते हैं।

अस्तु, जायसी और कबीर की साधना में सब से बड़ा भेद यह है कि जायसी जहाँ अपनी भावना को रहस्य का रूप देते हैं वहाँ कबीर अपने बाद को। एक भावना-प्रिय प्राणी है तो दूसरा बाद प्रिय द्रष्टा। कबीर ने क्या देखा इसे बोधे हाँ भोग देख पाते हैं किन्तु जायसी ने जो देखा वह सबके सामने है। कबीर का पुरुष शून्य महल में रहा पर जायसी का प्रियतम कण कण में अपनी साँकी दिखाता रहा। इसका यह अर्थ नहीं कि कबीर ने कण कण में उस परम पुरुष को नहीं देखा। देखा और अवश्य देखा किन्तु बताने के लिये हाँ, रमाने के लिये नहीं। कबीर कहते हैं, जायसी दिखाते हैं यही कारण है कि कबीर का रहस्य 'बाद' के रूप में हमारे सामने आता है और उसमें इष्टयोग या साधना की बातें इतनी आ जाती हैं कि हम उन्हें गणित का अंश समझते अथवा तन्वों और शरीर-विज्ञान की वस्तु मानते हैं। जायसी ने भी इष्टयोग की साधना को अपनाया है। उन्होंने भी चन्द्र, सूर्य, इला, पिगला, सुपुष्पा आदि का उल्लेख किया है किन्तु स्वतंत्र रूप से नहीं गढ़ और पिंड के रूप में हाँ। इसका फल यह हुआ है कि हम उसमें उलझते नहीं। उसको पकड़ कर आगे बढ़ जाते हैं। तो भी हमें मानना पड़ता है कि इस प्रवृत्ति के कारण जायसी की कथा भी कहीं कहीं उलझ जाती है और उनकी रचना भी दुरूह हो जाती है।

कबीर और जायसी में एक बात और भी विचारणीय है। कबीर में सदाशय नहीं, प्रखरता है। उन्हें सभी बातों में रस नहीं मिलना। उनको तो बहुत सी बातों को जब-मुक्त से मिटा देना है। इस मिटाने की चिन्ता में जो कुछ उनके मुँह से निकलता है वह ईशप्रेमणा से नहीं, 'पौरे' या 'शेख' के प्रपञ्च से। इस प्रपञ्च से जन को मुक्त करने के लिये जो ठान ठनता है उसमें कबीर अपने पक्ष को स्पष्ट रखने की बेसी चिन्ता नहीं करते जैसी कि विपक्ष को निर्मूलक करने का उल्लासने की। सांगति यह कि हम कबीर में राग और द्वेष दोनों को प्रबल रूप में पाते हैं। परन्तु जायसी में यह बात नहीं है। उनमें राग की ही प्रधानता है।

होय तो वही प्रसंग पाकर पनप जाता है, नहीं तो उसको मिटाने की ही चिन्ता में जायसी मग्न रहते हैं। कबीर में हठ, प्रेम, भक्ति और उपदेश है। जायसी में भी हठयोग है, प्रेम, है, उपदेश है पर कोरे रूप में नहीं, प्रसंग के भीतर। जायसी सभी को रसमय बना रम्य रूप में रँगना चाहते हैं। उनको काव्य का रूप देना है, कबीर को इसकी क्या पर्वा है कि वह श्रोता की रुचि का भी कुछ ध्यान रखें और जगती हुई बात खरे रूप में पटी बोली में न कहें। कबीर और जायसी में यह भी बड़ा विमेल है कि जायसी सामाजिक के हृदय में घर करना चाहते हैं और कबीर राज। निदान, दोनों की रहस्य-भावना भी भिन्न भिन्न ढर्रे पर चलती रही है और दोनों का सम्मान भी भिन्न भिन्न क्षेत्रों में भिन्न भिन्न रूप में हुआ है। कबीर को सुनने में किसी संप्रदाय को रस मिलता है तो जायसी को समझने में सबको। कबीर सुलभ हैं, सहज नहीं। जायसी सहज हैं सुलभ नहीं। इसी से उनका प्रचार भी कम है।

देवचंद प्रबोध संश्रुतचन्द ताको नाम ।
 भयो सप्तो नाम सूरजचंद मन्द निकाम ॥
 सो समर करि साहि सेवक गये विधि के लोक ।
 रह्यो सूरजचंद दृग ते हीन भर वर शोक ॥
 परयो कूप पुकार काहु सुनी ना संसार ।
 सातये दिन आय यदुपति कियो आप उधार ।
 दियो चख दे कही शिशु सुन मांग वर जो चाह ।
 हौं कियो प्रभु भगति खाहत शत्रु नाश सुभाइ ॥
 दूसरो ना रूप देखौं देखि राधे दयाम ।
 सुनत करुणासिंधु भाषो एवमस्तु मुशाम ॥
 प्रबल दक्षिण विप्र कुल ते शत्रु हुइहैं नास ।
 अमित बुद्धि विचारि विद्यामान माने मास ॥
 नाम राखे मोर सूरजदास, सूर, मुश्याम ।
 भये अन्तर्धान बंते पाछिन्की निशि याम ॥
 मोहि पनसो इहै ब्रज की बसे मुल्य चिन याग ।
 यवि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप ।
 विप्र प्रभु जगात को है भाव भूरि निकाम ।
 'सूर' है नंदनदज्जू को लियो मोल गुणाम ॥

यह वंशावली 'साहित्य कहर' में मिलती है और यही कुछ हेर-फेर के साथ नानराम भट्ट की दी हुई वंशावली के रूप में भी प्राप्त है। इस वंशावली पर विचार करते समय भूकना न होगा कि यह सूरदास द्वारा कथित वंशावली नहीं जाती है। लोगों का कहना है कि जब यह 'साहित्य कहर' में पाई जाती तब इसके प्रमाण होने में कोई अशक्य नहीं होनी चाहिये। दूसरे लोगों का कहना है कि इसके रंग टंग में सिद्ध नहीं होता कि यह सूरदास की रची हुई है। उनका यह भी कहना है कि "प्रबल दक्षिण विप्र कुल ते शत्रु हुइहैं नास" पेशवा कुल के महत्त्व का चोतक है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि इसका

संकेत दक्षिण के वल्लभाचार्य से है। विचारणीय बात यह है कि अध्यात्म के क्षेत्र में किसी व्यक्ति का उल्लेख न होकर किसी कुल का उल्लेख क्यों हुआ? आध्यात्मिक दर्शन में व्यक्ति विशेष को ही महत्त्व मिल सकता है, कुल को नहीं। इतना ही नहीं, हमके आरम्भ में जिस 'प्रभु जगात' का उल्लेख हुआ है उसीका अन्त में भी। इसका भी तो कुछ कारण होना चाहिये। माना कि यद पद सूरदास के द्वारा ही रचा गया है। किन्तु तो भी यह कैसे मान लिया जाय कि इसमें भट्ट-कुल पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है और न विशेष ध्यान दिया गया है 'विप्र कुल' पर ही। इतना ही नहीं, इसमें यद भी कहा गया है—

नाम रखे मोर सूरजदाम सूर मुझाम। क्या यद विलक्षण बात नहीं है कि जहाँ 'प्रबल दक्षिण विप्र कुल' का उद्घोष किया गया है वहाँ सूरदास का तीन छापी का भी। क्या एक ही समय एक ही व्यक्ति के द्वारा एक व्यक्ति के तीन नाम रखे जा सकते हैं? ऐसा मानने को तो जी नहीं चाहता। और देखन में भी तो ऐसा नहीं आता। तो फिर इसका रहस्य क्या? अच्छा, कुछ काल के लिये इसे भी ठीक मान लें तो भी यह तो जानना होगा कि सूरदास ने इसकी रचना की कब? सौभाग्य से 'साहित्यलहरी' का तिथि भी प्राप्त है। छाँजिये—

मुनि पुनि रसन के रम लेब।

दसन गौरी नद को लिखि सुवज्र सवत पेब।

नन्द नदन मास द्योते ही न त्रितिया बार।

नन्द नन्दन जनम ते है बान सुष आगार।

त्रितिय शेष सुकर्म जोग विचारि 'सूर' नवीन।

नन्द नन्दन दाम हित 'साहित्य लहरी' कीन।

—साहित्य लहरी, १०१

इससे यह सिद्ध है कि 'साहित्यलहरी' की रचना सन् १६०७ (१५१७) में हुई। सन् १६०७ में सूरदास की अवस्था क्या थी इसे ठीक ठीक कहना

कुछ कठिन है। 'नन्द नन्दन दास हित, का अर्थ यदि कृष्णदास लिया जाय तो कहना होगा कि कृष्णदास के लिखे ही सूरदास ने 'साहित्यलहरी' की रचना की। 'साहित्यलहरी' के द्वारा साहित्य शास्त्र की शिक्षा दी गई है, इसमें तो सन्देह नहीं। कारण यह की इसके पदों में अलंकारों और नायिक-भों का स्पष्ट निर्देश है। और इसमें दृष्टिकुट के द्वारा यह भी बताया गया है कि किसका सम्बन्ध किससे क्या है। ऐसा प्रसिद्ध भी है कि कृष्णदास अपने पदों में सूरदास का अनुकरण करते थे। तो क्या यह मानना उचित न होगा कि इसी कृष्णदास के हत 'साहित्यलहरी' बनी। यदि यह सत्य है तो इतना और भी मानना ही होगा कि 'साहित्यलहरी' की रचना के समय सूर सूर बन चुके थे।

सूरदास के जीवन के प्रमग में विद्वानों ने एक दूसरी भी युक्ति से काम लिया है। उनका अनुमान है कि 'सूरसागरसारावली' की रचना भी साहित्य-लहरी के आसपास ही हुई होगी। यह भी प्रमजता की बात है कि 'सारावली' में ६७ वर्ष का उल्लेख है। सूरदास कहते हैं—

‘गुरु प्रसाद होत यह दरशन सरसठ वरय प्रमीन।

शिव विधान तप करैउ बहुत दिन तऊ पार नहि लीन’—

—सूरसागर सारावली—१००२

यह तो प्रगट ही है कि इसमें 'गुरुप्रसाद' 'सरसठ वरय' और 'शिवविधान' बड़े महत्व के पद हैं। 'गुरु-प्रसाद' की उल्लेखन हो सकती थी, किन्तु सूरदास ने कृपा कर इसको निर्विवाद कर दिया है।

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सबही भन भगमायो।

भो बल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला मेद बतायो।

—वही, (११०२)

इसमें इतना तो सिद्ध ही हो गया कि तत्त्व ज्ञान कराने और 'लीला-मेद' बताने-वाले सूरदास के गुरु भी बल्लभ ही थे। और उन्हीं के प्रसाद में सूर को दिव्य-

लीला का साक्षात्कार भी हुआ। इसमें कुछ उनके कुल का भी कोई बोग था, यह नहीं कहा जा सकता। सूर को जो दिव्य दर्शन मिला था वह यह था—

धीर समीर बहत त्यहि कानन बोलत मधुकर मोर ।
 प्रीतम प्रिया वदन अवलोकत उठि उठि मिलत चकोर ।
 अमित एक उपमा अवलोकत जिय में परत विचार ।
 नहि प्रवेश अज शिव गणेश पुनि कितक बाग ससार ।
 सहस रूप बहु रूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय ।
 कुमुद कळी विकासत अम्बुज मिलि मधुकर भागी सोय ।
 नलिन पराग मेष माधुर सो मुकुळित अम्ब कदम्ब ।
 पुनिमन मधुप सदा रस कंभित सेवत अज शिव अम्ब ।

—सूरसारावली- १००१ ।

इस 'मधुर रस' की अनुभूति सूर को भी बल्लभ की कृपा से हुई यही सूर का कथन है।

सूर के जन्मकाल के विषय में अनुमान से संवत् १४४० (संवत् १६०७— ६७) ठीक ठहराया गया था किन्तु सम्प्रदाय की जनभूति के आधार पर संवत् १५३५ माना गया है। कारण यह बताया गया कि सम्प्रदाय में परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि सूरदास भी बल्लभ से दस दिन छोटे थे। 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' के आधार पर भी बल्लभ की जन्मतिथि इसी संवत् में पड़ती है किन्तु कुछ लोगों को कतिपय कारणों से यह तिथि भी मान्य नहीं है। उनकी दृष्टि में भी बल्लभ का जन्म संवत् १५२९ में होना चाहिये। जो हो, इतना तो मानना ही होगा कि इन दृष्टियों से 'साहित्यलहरी' की रचना ६७ वर्ष की अवस्था के उपरान्त अर्थात् 'सूरसारावली' के अनन्तर ही हुई। अब यह समझ में नहीं आता कि इस अवस्था में भी सूर ने भी बल्लभाचार्य का स्पष्ट उल्लेख न कर क्यों उगड़ने 'प्रबल दक्षिण विप्र कुल' का विधान कर दिया। इतना ही नहीं, इससे भी अधिक विचक्षण बात तो यह है कि इसमें लुप्त कर कहा गया है—

'बपि गोसाईं करी मेरो आठ मखे छाप'

भी गोसाईं' अर्थात् श्री बल्लभाचार्य के पुत्र श्री गोस्वामी विठ्ठलदास जी तो हममें आ गये और यह भी आ गया कि उन्होंने किया क्या। हाँ, यदि नहीं आया तो यही कि सूरदास को तत्त्वज्ञान किसने कराया। कैसी विडम्बना है कि इसमें सूरदास ने अपने आचार्य गुरु का तो सनेह नहीं किया और नाम भी लिया तो उमका जिसने उसे ऋष्टछाप में स्थान दिया। कोई कुछ भी कहे, किन्तु यह हो नहीं सकता कि यह पद वास्तव में सूर का है। इसमें प्रत्यक्ष ही 'कुल' का गुणगान हुआ है, व्यक्ति का नहीं। फिर चाहे वह 'विप्रकुल' हो या 'भट्ट कुल,' है तो वह सर्वथा 'कुल' ही ! इसमें चन्दान्त नाम तो है ही सूर के शेषछः भाई भासग्राम में जूझते हैं और अन्धा सूर कूप में पड़ता, सात दिन उभी में सड़ता और तब भगवान की कृपा से बाहर होता और उसके प्रकट साक्षात्कार पर भी उमका भोख नहीं खुलती। उसके शत्रुकुल का नाश तो भविष्य में किसी विप्रकुल से होगा। है न इसकी यही व्यवस्था ! तो क्या यही माधु भी है ! और हम सचमुच सूर से यही सुनना चाहते हैं ! हमें तो ऐसा दिखाई देता है कि इस 'सूर' के साथ 'वल्लभमंगल' की कथा भी जुट गई है।

सूरदास ने इस दर्शन के सम्बन्ध में कुछ और भी लिखा है। कहने हैं—

मुख पर्येक अक ध्रुव देखियत कुमुम कन्द द्रुम लाये ।
मधुर मल्लिका कुसुमित कुंजन दर्पति लगत मुहाये ।
गोवर्द्धन गिरि रत्न सिंहासन दर्पति रस मुखमान ।
निबिड कुञ्ज जहं कोउ न आवत रस बिजसन सुख लान ।
निशा भोर कबहुँ नहि जानत प्रेम मत्त अनुगग ।
कलितादिक सींचत मुखनैनन जुर महत्परि ब्रजभाग ।
यह निकुञ्ज को वर्णन करि दे वेद गेह पविहार ।
नेति नेति कर कहैउ सहस विजितऊ न पायो पार ।
दग्धन दियो कृपा करि मोहन वेग दियो वरदान ।
आगम कल्प रमण तुव ह्वै है भीमुख कही बखान ।
सो भुतिकरुष होव ब्रजमण्डल कानो राख बिहार ।

नवल कुञ्ज में अश बाहु घरि कीन्ही केलि अपार ।

—सूरसारावली, १००३—१००८ ।

यह सच है कि सूरदास ने यहाँ भी मोहन के दर्शन और मोहन के बरदान की बात कही है किन्तु यह तो हो नहीं सकता कि यह 'दर्शन' और यह 'बरदान' 'साहित्यलहरी' के दरसन और बरदान का यातक है । नहीं, यह बरदान उस बरदान से सर्वथा भिन्न है । और इसका संकेत है भविष्य जीवन की मधुर निकुञ्ज काळा की प्राप्ति । भुक्ति का निर्देश भी इसी को लक्ष्य कर किया गया है । निदान मानना पड़ता है कि 'सूरसारावली' के इस निकुञ्ज दर्शन से 'साहित्यलहरी' के उस कृप दर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं । सूरदास ब्रह्मभट्ट ये भयवा नहीं यह हम ठीक ठीक नहीं कह सकते तथापि इतना तो कहा जा सकता है कि इसी पद के आधार पर उन्हें ब्रह्मभट्ट मानना अवक में हाथ धाना है । सूरदास के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि वह सारस्वत ब्राह्मण ये वह भी निर्बिवाद नहीं जैचता । क्योंकि जिस वार्ता के प्रमाण पर उनको सारस्वत ब्राह्मण कहा जाता है वह स्वयं ही सब को मान्य नहीं है । अष्टांगश्री कृत 'भावप्रकाश' में उनको सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है । इस आधार पर जो लोग उसे प्रमाण मानना चाहें मान सकते हैं अन्यथा इसका भी कोई हद आधार नहीं । सूरदास का एक पद है—

हरि जूहौ याते दुःख पात्र ।

भी गिरघरन चरन हति ना भई तजि बिषयास पात्र ।

हुती आठ्य तब कियो असइ व्यय, करी न ब्रज बन-जात्र ।

पोषे नहि तुव दाम प्रेम सौ, पोषी अपनो गात्र ।

भवन सँवारि, नारि-गस लोभ्यौ, सुत, वाहन, जन भ्रात्र ।

महानुभाव निकट नहि परसे, जान्यौ न कृत-विधात्र ।

छक-बक करि बित तित हरि पर-बन धायौ सब दिन-रात्र ।

सुखसुख बोल बहु बह्यो सिर, कृपि जु करी ले-दात्र ।

हृदय कुचल काम मू नृपना, जक कालभक है पात्र ।

ऐसे कुमति जाट सूरज कौं, प्रभु बिनु कोऊ न पाव ।

—सभा संस्करण, पद २१६ ।

हमारी दृष्टि में सूरदास का यह पद बड़े महत्व का है । इसमें जिस व्यक्ति का परिचय दिया गया है यदि वह प्रतीक के रूप में न होकर व्यक्ति के रूप में है तो हमें यह कहने में सकोच नहीं होता कि इसमें सूर का आत्मजीवन है । 'ऐसे कुमति जाट सूरज कौं प्रभु बिनु कोऊ न पाव' में जाट का अर्थ 'जपाट' भी हो सकता है और 'जाट' भी । जाट का अर्थ 'जाट' ही है इसे कहने में कोई दोष नहीं दिखाई देता । सूरदास ने अन्यत्र भी कहा है—

हौं तो जात गँवार पतित हौं, निपट निलज, खिसि आनी ।

तब हंसि कछौ सूर प्रभु सो तो, मोहूँ मुन्यो पटानो ।

—१९६ ।

'हौं तो जात गँवार' भी कुछ हमी का सूचक है । साथ ही इतना और भी स्मरण रहे कि इसमें यह भी कहा गया है—

'हुतो आठ्य तब कियो अमदुयय' जिससे विदित होता है कि सूर जन्म में दांगदू न थे । इस 'अठ्य' को ध्यान में रखकर यदि सूर का अध्ययन किया जाय तो बहुत से रूपक आप ही खुल जाते हैं । यह तो सभी लोग जानते हैं कि सूरदास ने गाय का रूपक रचा है और रचा है खेतों का रूपक भी । साथ ही दरबार अथवा मुल्तानी दंग को भी बड़े ही दंग और व्योरे के साथ दिखाया है । शासन की उस समय जैसी व्यवस्था थी वह भी सूर में भरी पड़ी है । बाद, अथवा कचहरी की जिल्पापड़ी भी उसमें भली-भाँति आ गई है और इस टिकाने में आई है कि वह किसी अनुभवी अथवा मुक्तभोगी की बात ही ठहरती है । कहने का तात्पर्य यह कि यदि हम सूर को घन ऊँच जाट के कुल का देखें तो यह ब्यारी बातें आप ही आ जाती हैं और फिर किसी प्रकार की कोई लज्जन नहीं रह जाती । विचार के लिए यहाँ सूरदास के दो ऐसे पद दिये जाते हैं जिससे विवर्ति आर ही स्पष्ट हो जाय ।

सौचो सो बिलवार कहावे ।

काया-ग्राम मसाहत करिके जमा बाँधि ठहरावे ।
मन-महतो करि कैद अपने में ज्ञान-जहति या छावे ।
मौंड़ि मौंड़ि खरिदान क्रोध कौ, पोता भजन भरावे ।
बट्टा काटि कपूर भरम कौ, फरद तलै लै डारै ।
निहचै एक असल पै राखै, टरै न कबहुं टारै ।
करि अवारजा प्रेम प्रीति कौ, असल तहाँ खतियावे ।
दूजे करज दूरि करि दैयत, नैकु न तामै आवै ।
मुजामिल जोरै ध्यान कुलज कौ, हरि सो तहँ लै राखै ।
निर्भय रूपे लोभ छाड़िके, सोई वारज राखै ।
जमा खरच नोकै करि राखै, लेखा समुझि बतावे ।
सुर आपु गुजरानु मुसाहिब, लै जवाब पहुँचावे ।

—सभा सरकारण-१४२ ।

इसी की गवाही में एक दूसरा पद भी लीजिये—

हरि ! हौं ऐसी अमल कमायो ।

साबिक जमा हुती जो जोरी, मिन जाकिर तक ल्यावो ।
बासिक बाकी, स्थाहा मुजमिक, सब अचम की बाकी ।
चिप गुप्त सु होत मुस्तोफी सरन गहुँ मैं काकी ?
मोहरिक पाँच साध करि दीने तिनकी बकी बिपरीति ।
जिम्मे उनके, माँगें मोतै, यह तो बकी अनीति ।
पौख-पखीस साध अगवानी, सब मिलि काज बिगारे ।
सुनी तगीरी, बिसरि गई सुधि, मो तजि धरै निबारे ।
बकी लुमार बरामद हूँ को किलि कीनी हे साफ ।
सुरदास की बही बोनती, दासक कीजे माफ ।

—सभा सं०-१४३ ।

इन पदों में जो अरबी-फारसी के शब्द आये हैं उनकी सगति ठीक ठीक तभी बैठ सकती है जब हम सूर को जनसम्राज के काम के हो, खेती के विषय में भी यही कहा जा सकता है। खेती का विवरण जिस दृग में सूर ने दिया है वह अन्यत्र नहीं मिलता। देखिये—

प्रभु तू, यो कीन्ही हम खेती ।
 चर भूमि गाउँ हर जोने, अरु जेनी की लेती ।
 काम कोष दोउ बैल बली मिलि, रजतामम सब काँही ।
 अति कुबुद्ध मन हाँकन हारे, माया जूधा दोन्ही ।
 इन्द्रिय मुक्त किमान, महातुन-भयन बाँज बई ।
 जन्म जन्म की विषय बामना, उपलब्ध लता नई ।
 पच प्रजा अति प्रबल बली मिलि, मन विधान जो कानो ।
 अधिकारी जम लेखा मांगे, तातैं हौं आधानो ।
 घर में गण नहिं भजन तिहारो, जौन दियें मै छूटी ।
 धर्म जमानत मिल्यो न चाहे, तातैं ठाकुर लूटी ।
 अहंकार पटवारी कपटी, फूटी ललित बही ।
 लागे घग्ग बतावे अघरम, बाकी सबै रही ।
 सोई को जु बसतै रहिये अपने घरिये नाउँ ।
 अपने नाम की बैल बंधी, सुबस बसौं हरि गाउँ ।
 कीजे कुरा दृष्टि की बरषा, जन की जाति लुनाई ।
 दूरदास के प्रभु सो करिये, होई न कान-कटाई ।

—सभा सं०—१८४ ।

इस जाट के प्रसंग में इतना और भी जान लेना चाहिये कि सूर में शूरता भी कम नहीं है। सूर का रावण छत्रियत्व की रक्षा करता है। उसका निश्चय है—
 संकट परे जो सरन पुकारौं, तो लज्जी न कटाई ।

—बही, ५७६ ।

और यही कहता है उनका कुंभकर्ण भी—

सूर सकुचि जो सरन सँभारौ, छत्री-धर्म न होय ।

—वही, ५६५ ।

इस क्षत्रिय-धर्म को यदि और भी उत्कर्ष के साथ देखना हो तो सूरदास का यह पद पढ़ें—

धनि जननी जो सुभटहि जावै ।

भीर परै रिपु को दळि दलि मलि कौतुक करि दिखरावै ।

कौसिल्या भौ कहति सुमत्रा, जनि स्वामिन दुख पावै ।

लछिमन जनि हौ भई सपूती, राम काज जो आवै ।

जावै तो मुख बिलसै जग मै, कीरति लोकनि गावै ।

मरे तो मटक मोटि भानु की, सरपुर जाइ बसावै ।

लोह गई लालच करि जिय की, भोगी सुभट लजावै ।

सूरदास प्रभु जीति सधु कुसल छेम घर आवै ।

—वही, ५९६ ।

क्षत्रिय की इस आन और इस मर्यादा को देखने हुए सूर के क्षत्रिय-हृदय को न सराहना उचित न होगा ।

जाट सम्बन्धी जो पद पहले आ चुका है उसमें एक और भी सकेत है जिससे सिद्ध हो जाता है कि सूरदास के इष्टदेव थे भी 'गिरिधरन जी' । 'भी-गिरिधरन चरन रति ना भई' का यही तो निर्देश है । भी-गिरिधरन जी भी बल्लभाचार्य की कृपा से सूर के इष्टदेव हुए इसमें कोई सन्देह नहीं । सूर ने एक स्थल पर कहा है—

सूर कही क्यों कहि सकै, जन्म कर्म अवगार ।

कहे कहुक गुरु-कृपा तैं भी भागवतऽनुसार ।

—वही, ३७९ ।

इस गुरु-कृपा में गुरु का अर्थ है श्री बल्लभाचार्य, कारण कि श्री भागवत का ज्ञान उन्हीं के द्वारा सूरदास को हुआ था और 'सूरसारावली' में उन्हीं का स्पष्ट नामोल्लेख भी है। परन्तु यहाँ एक और ही प्रश्न उठ खड़ा होता है। सूरदास ने एक पद में हरिवंश तथा हरिदास का भी नाम लिया है जिसमें इधर कुछ लोग उन्हीं के सम्प्रदाय में देखना चाहते हैं। इसी दृष्टि में उन्होंने उक्त पद की व्याप्ति पर उचित ध्यान नहीं दिया है। सूरदास का वह पद है—

कह्यो भागवत शुक अनुराग । केमे समुझे बिनबधभाग ॥

श्री गुरु सकल कृपा करी ।

सूर आश करि वरयो रास । चाहत हौं नृ-दास बन बास ।

श्री राधावर इतनी कर कृपा ।

निशिदिन श्याम सेउँ मैं तोहि । हूँ कृपा करि दीजे मोहि ।

नव निकुञ्ज मुख पुत्रमय ।

हरिवंसी हरिदासी जहाँ । हरि करुणा करि राखहु तहाँ ।

नित बिहार आमार दे ।

कहत मुनत बाइत रमरीति । वक्ता भोला हृदि प्रानि ।

रास रसिक गुण गाह हौं ।

—सूरसागर, पृ० ४९१, ३० ।

प्रत्यक्ष ही इस पद में जो श्री गुरु का प्रयोग हुआ है वह हरिवंश और हरिदास के लिये नहीं। यहाँ भी इसका संकेत श्री बल्लभाचार्य के निमित्त ही है। 'निशि दिन श्याम सेउँ मैं तोहि' में सेवा की भावना बनी ही है। तो फिर सूर को श्री बल्लभ का शिष्य क्यों न माना जाय ? रही 'हरिवंसी हरिदासी जहाँ' की अवचन, सो इसका सीधा संकेत है निकुञ्ज-जीका, नित्य-विहार किया मधुर रस की अनुभूति से; कुछ किसी उपदेश अथवा दीक्षा में नहीं। सूरदास वस्तुतः कहना क्या चाहते थे और क्या न कर सके उसको भी ज्ञान लेना चाहिये। कहते हैं—

जनम तो बाढ़ि गयो सिराह ।

हरि-मुमिरन नहिं गुरु की सेवा, मनुवन बखी न चाह ।

अब की बार मनुष्य-देह धरि, कियो न कछु उपाह ।
 भटकत फिरयो स्वान की नहि नैकु जूठ कै चाह ।
 कबहुँ न रिखए लाक गिरधरन, बिमल-बिमल जस गाह ।
 प्रेम सहित पग बाँधि धूँधरु, सख्यो न अग नचाह ।
 श्री भागवत सुनी नहि सवननि नैकहुँ रुचि छपजाह ।
 आनि भक्ति करि हरिभक्तनि के कबहुँ न घोए पाह ।
 अब हौ कहा करौ कहनामय, काँजे कीन उपाह ।
 भव अबोधि, नाम-निज-नोका, सुरहि लेहु चढ़ाइ ।

—सभा स०-१५५ ।

इसमें भी 'लाल गिरधरन' का नाम लिया गया है जिसमें सिद्ध है कि सुरदास के इष्ट श्री 'गिरिधरन' ही थे । 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' (पृष्ठ ४१) में कहा गया है कि संवत् १५६४ में श्री गोवर्धन की स्थापना हुई । इस स्थापना के उद्देश्य से सुरदास को श्री बल्लभाचार्य की शरण मिली अतः कहा जा सकता है कि आरम्भ से ही सुरदास का सम्बन्ध इस रूप में हो गया था । कारण कि शरण में लेने के उपरान्त संवत् १५६५ में श्री आचार्यजी काशी में 'द्विगमन' के हेतु विराजमान थे । 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' स्वतः प्रमाण कोटि में नहीं आ सकता । उसकी रचना संवत् १७२९ में हुई थी, ऐसा उसमें कहा गया है परन्तु उसमें प्रसंगवश जो इतिहास आ गया है वह सर्वथा असाधु है ।

कहना न होगा कि उस समय औरगजेब दिल्ली का सम्राट था । उसके विषय में भी जिसे ठक ठीक पता नहीं वह उसके समय का कैसे हो सकता है । औरगजेब १७०१ सम्राट् नहीं बना था । वह समय शाहजहाँ के शासन का है । फिर भी उसको ग्राह्य हो कहा गया है । औरगजेब ने मन्दिर तोड़ने का कार्य सन् १६६९ (संवत् १६६९-५७ = १७२६) के पहले नहीं किया था । किन्तु 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' के कथनानुसार वह कार्य संवत् १७०४ के पहले ही हो गया था, जो था शाहजहाँ का समय । अतः तो वह है कि क्या

‘बाता’ क्या ‘सम्प्रदाय कल्यद्रूप’ क्या कोई और भी इसी वर्ग का दूसरी रचना ऐसी नहीं बनी है कि हम उसे प्रमाण कोटि में मान सकें। ‘वेष्णवन की बार्ता’ की अमाधुना पर ‘विचार विमर्ग’ नामक ग्रन्थ में विचार हो चुका है। ‘सम्प्रदाय कल्यद्रूप’ के विषय में यहाँ इतना निवेदन कर देना ही पर्याप्त है। सूरदास के बारे में कहा जा चुका है कि उनकी जानि गवार थी, और ये वे जाट। यहाँ इतना और भी समझ लें कि उनका स्थय कहना है—

मैं तेरे घर को हों टाढ़ा, मो सखि कोइ न भान ।
 मोह लैंहों जो मो मन भावें, नइ महर की आन ।
 धन्य नन्द, धनि धन्य जमादा, जिन जायो अस पूत ।
 धन्य भूमि, ब्रजवासी धनि-धनि आनंद करत भूत ।
 धर-धर होत अनंद बधाव, जई-नई मागव भूत ।
 मनि मानिक, पाटवर-भम्बर, लत न बनत विभूत ।
 दय-गय लाख मंडार दिये सब, करि भर तौ भात ।
 जबाइ तेन नबाइ फार देखत, सरति धर न समात ।
 ते मोह मित्र जान धर अपने, मैं बूझा तब जात ।
 हसि हास दीरि मिले अरुम भारे, हम तुम एक छात ।
 सरति देहु, लहूँ नाई एको, अन्न वस्त्र कहि काज ।
 जो मैं तुमसौ मोगिन आयो, सो लैंहों नदराज ।
 अपने मुत की बदन-दिलावहु, बह महर सिरताज ।
 तुम साहब, मैं टाढ़ी गुहागी, प्रभु मेरे ब्रजराज ।
 चन्द्र-बदन-दरसन-सरति दे, सा मैं लै पा जाऊँ ।
 जो सपति सनकादिक दुखलभ, सा है गुहरी टाऊँ ।
 जाहीं नेति नेति सुनि गावैं, तेह कमल रद द्यऊँ ।
 हों तेरी जनम, जनम को टाढ़ा, सूरदास कहाऊँ ॥'

—सभा स०—६५४ ।

हममें जो कुछ कहा गया है उसको पद रचन में देखा जाय तो स्वयं अस्वतन्त्र

हो जाय कि वस्तुतः 'हैं तेरो जनम जनम को टाढ़ी सूरजदास कहाउँ।' का रहस्य क्या है। 'सूरजदास कहाउँ' को और भी खुले रूप में देखना है तो इतना और भी टॉक डे।—

जब हैंसि के मोहन कछु बोलै, तिहि सुनि के घर जाऊँ।

हौं तौ तेरे घर को टाढ़ी सूरदास मोहि नाऊँ।”

—सभा स०-१५३।

सूरदास कीर्तन किया करते थे और कीर्तन करना, स्वामी का गुण गाना, टाढ़ी का भी काम है। सूरदास वस्तुतः जन्म के टाढ़ी नहीं, कर्म के टाढ़ी थे अतः बिदाई भी कुछ अपने ढंग का ही माँगते हैं। इस टाढ़ी का स्थान है गोवर्धन, जहाँ भी गिरधरन जी का मन्दिर था। 'मैं गोवर्धन तैं आबो' में इसा की पुकार है। 'हैंसि हैंसि दौरि मिले अरुम भरि हम तुम एके ज्ञाति।' से इतना तो आप ही प्रकट हो जाता है कि यहाँ 'ज्ञाति' का अर्थ है याचक, 'भूय' नहीं, परन्तु इतना और भी चेत लेना चाहिये कि सूरदास के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि पूर्व जन्म में वे यादव थे। तो क्या इसका भी कुछ रहस्य है? 'भक्त-विनोद' में कवि मियॉसिंह ने इसका विवरण दिया है और प्रसंगवश ठीका भी है—

सो जब समय आय नियराना। तजि विकुठ यादव गुण खाना।

मयुरा प्राप्त विप्रवर गोहा। भा उत्पन्न भक्ति हरि नेहा।

जन्म अंच हग ज्योति बिहीना। जननि जनकु कछु हर्ष न कीना।

—सूरदास जी का जीवन चरित्र पृष्ठ १५, सूरसागर।

सूर के जन्माग्य और ज्ञाष्टन होने की जो वार्ता अत्यन्त प्रचलित है, वह यहाँ भी है। सूर की बाणी से यह सिद्ध नहीं होता कि यथार्थतः सूर जन्माग्य थे। सूरदास ने ओल के विषय में बहुत कुछ लिखा है और अनेक रूपों में लिखा है। कही कहते हैं—

‘सूरदास की एक आँख है ताड़ में कलु कानो ।

—सभा सं०-४७ ।

तो कही लिखते हैं—

सूरदास सौ कहा निहारो, नैननि हूँ की हानि ।

—सभा सं०-१३५ ।

तो कही यह भी बताते हैं—

सूर कूर, आँधरो, मैं द्वार पंशो गाऊँ ।

—सभा सं०-१६६ ।

तो कही यह भी सुनाते हैं—

सूरज दास अन्ध, अपराधी, सो काहें बिसरायो ।

—सभा सं०-१९० ।

आदि न जाने कितने स्थल सूरसागर में आये हैं जिनमें निष्कर्ष निकलता है कि सूरदास जन्मान्ध नहीं थे। हाँ, धीरे-धीरे अन्धे हो गये थे। सूरदास ने सौन्दर्य की जो छवि उतारी है और किसी वस्तु को जो जाता-जागता रमणाय रूप दिया है उसको देखकर कोई कहना तो दूर रहा, कहने का साहस भी नहीं कर सकता कि सूरदास जन्मान्ध थे। यदि रूप के सौन्दर्य तक ही यह बात होता तो कहा जा सकता था कि सुन सुनाकर भी तो सूरदास ऐसा लिख सकते थे। परन्तु यह बात है नहीं। उत्प्रेक्षा के रूप में सूरदास ने जिस अप्रमत्त का उत्प्रेक्षण किया है वह सर्वत्र देखा दिखाया ही नहीं है, उसमें बहुत कुछ सूरदास का अपना भी है और है सर्वथा अपना दृष्टि का प्रसाद। सूरदास कहते हैं—

वन दामिनि चरती लौं कौंचे, जमुन जल लौं पारो ।

आगे जातुं जमुन जल गहरो वंछीं निह जू लाग ।

—सभा सं०-६२२ ।

बसुन्हेव जिस विपत्ति में पिर गये हैं उसका स्वारस व्यक्तता तो इसमें है ही। दामिनि का वन में कौंचना और चरती तक कौंच कर आ जाना तो किसी भी कवि

हो जाय कि वस्तुतः 'हैं तेरो जनम जनम को टाढ़ी सूरजदास कहाउँ।' का रहस्य क्या है। 'सूरजदास कहाउँ' को और भी खुले रूप में देखना है तो इतना और भी टॉक डे।—

जब हँसि के मोहन कछु नोलै, तिहि सुनि के घर जाऊँ।

हौं तो तेरे घर की टाढ़ी सूरदास मोहि नाऊँ।”

—सभा स०-१५३।

सूरदास कीतन किया करते थे और कीतन करना, स्वामी का गुण गाना, टाढ़ी का भी काम है। सूरदास वस्तुतः जन्म के टाढ़ी नहीं, कर्म के टाढ़ी थे अतः बिदाई भी कुछ अपने ढंग का ही माँगते हैं। इस टाढ़ी का स्थान है गोवर्धन, जहाँ भी गिरधरन जी का मन्दिर था। 'मैं गोवर्धन तैं आबो' में इसा की पुकार है। 'हँसि हँसि दीरि मिले अरुम भरि हम तुम एके शाति।' से इतना तो आप ही प्रकट हो जाता है कि यहाँ 'शाति' का अर्थ है याचक, 'भूय' नहीं, परन्तु इतना और भी चेत लेना चाहिये कि सूरदास के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि पूर्व जन्म में वे यादव थे। तो क्या इसका भी कुछ रहस्य है! 'भक्त-विनोद' में कवि मिराँसिंह ने इसका विवरण दिया है और प्रसंगवश लिखा भी है—

तो जब समय आय नियराना। तजि विकुठ यादव गुण लाना।

मथुरा प्राप्त विप्रवर गोहा। भा उत्पन्न भक्ति हरि नेहा।

जन्म अब हग ज्योति बिहीना। जननि जनकु कछु हर्ष न कीना।

—सूरदास जी का जीवन चरित्र पृष्ठ १५, सूरसागर।

सूर के जन्मान्ध और ब्राह्मण होने की जो वार्ता अत्यन्त प्रचलित है, वह यहाँ भी है। सूर की वाणी से यह सिद्ध नहीं होता कि यथार्थतः सूर जन्मान्ध थे। सूरदास ने अज्ञान के विषय में बहुत कुछ लिखा है और अनेक रूपों में लिखा है। यही कहते हैं—

‘सूरदास की एक आँखि है ताहु में कहु कानो ।

—सभा सं०—४७ ।

तो कही मिलते हैं—

सूरदास सो कहा निहारो, नैननि हूँ की हानि ।

—सभा सं०—१३५ ।

तो कही यह भी बताते हैं—

सूर कुर, आँधरो, मैं द्वार पयो गाऊँ ।

—सभा सं०—१६६ ।

तो कही यह भी सुनाते हैं—

सूरज दास अन्ध, अपराधी, सो काहें बिसरायो ।

—सभा सं०—१९० ।

आदि न जाने कितने स्थल सूरसागर में आये हैं जिनमें निष्कर्ष निकलता है कि सूरदास जन्मान्ध नहीं थे। हाँ, धीरे-धीरे अन्ध हो गये थे। सूरदास ने सौन्दर्य की जो छवि उतारी है और किसी वस्तु को जो जाता-जागता रमणीय रूप दिया है उसको देखकर कोई कहना तो दूर रहा, कहने का साहस भी नहीं कर सकता कि सूरदास जन्मान्ध थे। यदि रूप के सौन्दर्य तक ही यह बात होता तो कहा जा सकता था कि सुन सुनाकर भी तो सूरदास ऐसा लिख सकते थे। परन्तु यह बात है नहीं। उत्प्रेक्षा के रूप में सूरदास ने जिस अप्रमत्त का उत्प्रेक्षण किया है वह सर्वत्र देखा दिखाया ही नहीं है, उसमें बहुत कुछ सूरदास का अपना भी है और है सर्वथा अपना दृष्टि का प्रसाद। सूरदास कहते हैं—

धन दामिनि धरती लौं कौंचे, जमुग जल सो वागे ।

आगे जाऊँ जमुन जल गाहगे वंजै सिंह जु जाग ।

—सभा सं०—६२२ ।

बसुदेव जिस विपत्ति में घिर गये हैं उसका व्यापक व्यञ्जना तो इसमें है ही। दामिनि का धन में कौंचना और धरती तक कौंच कर भा जाना तो किसी भी कवि

के द्वारा कहा जा सकता था किन्तु 'जमुना जल सौ पागे' किसी सुदृष्ट कवि को ही दिखाई दे सकता है। इसी प्रकार सूर की एक दूसरी दृष्टि भी लीजिये—

जमुदा देखि सुत की ओर ।

बाल वैस रसाल पर, रिम इती कहा कटोर ।

बार बार निहारि तुष तन, नमित मुख दधि-चोर ।

तरनि किनहि परसि मानौ, कुमुद सकुचत भोर ।

त्रास तैं अति चपल गोलक, सजळ मोहित छोर ।

धीन मानौ ब्रेधि बसा करत जल झकझोर ।

—सभा स०-९७४ ।

यही की इस झकझोर पर ध्यान दें और देखें कि यह किस आँख का देन है।

सूरदास के बिनय के पदों में सबसे विचित्र बात यह दिखाई देती है कि सूर यदि किसी मत का नाम लेते हैं तो नामदेव का ही। कलियुग में नामदेव की ही सूर की दृष्टि में यह महत्त्व मिला है कि—

कलि मैं नामा प्रगट ताकी छानि छषावै ।

सरदाम की बीनती कोउ ले पहुँचवै ।

—सभा स०-४ ।

इसीको अन्यत्र भी इस रूप में लिखा है—

प्रीति जानि हरि गये बिकुर कै नामदेव घर छाषी ।

सूरदास द्विज दीन सुदामा, तिहिं दारिद्र नमाषी ।

—सभा स०-२० ।

तो क्या हमके आधार पर सरलता से यह नहीं कहा जा सकता कि आरम्भ में सूर नामदेव की शक्ति की ओर ही दले थे। वार्ता में कहा गया है कि जब श्री आचार्य जी के कहने पर सूर ने 'प्रभु हौ सब पतितन की टीकी'

का गान किया तब श्री आचार्य जी ने कहा—‘सूर है कौ एसो बिषियान काहे को है ? सो तासो कहु भगवत्कीआ वर्णन कर ।’ इससे भी विदित होगा है कि सूरदास पहले कीला को ओर नहीं मुड़े थे । उनका ध्यान तो उस समय बिषियाने, विनय करने अथवा दैन्य दिखाने की ओर ही था । ‘सूरदास का बीनती कोउ लै पहुँचावे’ में कोउ का प्रयोग प्रकट करता है कि सूर को कोई सद्गुरु अभी नहीं मिला था । सूर के विनय में राम नाम का माहात्म्य भी कुछ कम नहीं है । सूर कहते हैं—

आनंद-मगन राम-गुन गावे, दुख सताप की काटि कनी ।
सूर कहत जे भजत राम कौ, तिन सौं हरि सौं सदा बनी ।

—सभा स० १९ ।

इतना ही नहीं,

अद्भुत राम नाम के अंक ।
धर्म अक्षर के पावन द्वै दल, मुक्ति बधू ताटक ।
मुनि-मन इस-पल्ल-जुग, जाकै बल उबि ऊँच जात ।
जनम-मरन-काटन-कौ, कर्तारि तँछन बहु बिदुषात ।
अबकार-भजान हरन को रवि-ससि जुगल-प्रकाश ।
बामर निमि दोउ करै प्रकासित महा कुमग अनवास ।
दुहुँ लोक मुख करन, हरन दुख, वेद पुराननि साधि ।
भक्ति ज्ञान के पथ सूर ये, प्रेम निरंतर भाधि ।

—सभा स० १०

राम के इस स्वरूप को ठीक ठीक समझने का कार्य अभी हो सकना है जब हम सूर की भाषा को भी समझ लें । देखिये—

बिनती सुनो दीन की बिन टे केसें तुव गुन गावे ?
भाषा नटी लहुटि कर बीनै, कोटिब नाच नचावे ।
हर-हर लोम जगि किये होकति, नाना स्वाँग बनावे ।

तुम सों कपट करावति प्रभु जू, मेरी बुधि भरमावै ।
 मन अभिजाप-तरंगनि करि करि, मिथ्या निषा जगावै ।
 सोवन सपने मैं उयो सपति, त्यों दिखाइ बोराने ।
 महा मंझिनी मोहि आतमा, अपमारागहि लगावै ।
 क्यों दूती पर बध् भोरि कै लै पर पुरुष दिखावै ।
 मेरे तो तुम पति तुमही गनि, तुम समान को पावै ।
 सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा ग्नि, को मो दुख बिसरावै ।

—सभा स० ४२ ।

अस्त, हमारा कहना है कि सूरदास भी बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व ही भक्त बन चुके थे और बहुत कुछ चल रहे थे नामदेव के सगुण-निर्गुण मार्ग पर ही । योग साधना के जो अवशेष उनमें पाये जाते हैं उनकी 'साखी' में यही है । इसके सम्बन्ध में आगे चल कर 'ये' और विचार होगा । यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि 'चौरासा वैष्णवन की बार्ता' में जो कहा गया है कि—

“मो गऊ घाट सूरदास जी की ग्यल दूती । मो सूरदास स्वामी है, आप सेवक करते ।”

—बार्ता प्रसंग १, डाकौर पृष्ठ २८६ ।

सो ठीक दिखाई देता है । कारण कि सूरदास की स्वयं बाणी भी उसी पक्ष में है । उनके विनय के पदों में प्रगट होता है कि उन्होंने वैष्णव सत मन को स्वीकार किया था और उसी का उपदेश भी देते थे । राम-नाम की महिमा उसी समय की छाप है और विनय के अधिकार पद उसी समय के रचे हुए हैं । भी बल्लभभाचार्य के प्रभाव में आने तथा 'सगुण-लीला-पद' गाने के प्रसाद से उनकी रति निकुञ्ज लीला अवस्था मधुर-रस में हो गई और बल्लभ-सम्प्रदाय में भी उन्हें 'मानकीका' का अधिकार समझा गया । ८४ 'बार्ता' में जो यह कहा गया है कि सूरदास के मुख से जो अन्तिम पद चित्त की वृत्ति के खोतन में निकला सो था—

“संजन नैन रूप रस माते ।

अतिसे चार, चपल अनियारे पल रिजरा न समाते ।

चकि चकि जात निकट सवन के उकटि पुकटि ताटक रँदने ।

सूरदास अंजन गुण अटके नातर अब उड़ि जाते ।”

उसका सकेत भी यही है ।

यहाँ इतना और भी ध्यान रहे कि अन्त समय में सूरदास ने उसे गाया कुछ बनाया नहीं जैसा कि प्रमादवश समझा जाता है । इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है । अतः मानना यह चाहिये कि सूरदास की अन्तिम निष्ठा राम-रस अथवा निकुंज लीला में ही थी और उसी में रम जाने की सनमें उत्कट उत्कठा भी ।

सूरदास के जीवन के विषय में इतना निवेदन कर देने के उपरान्त यह आवश्यक नहीं रह जाता कि उन सभी बातों का जो कही न कही किया न किसी प्रकार किसी न किसी रूप में उनमें जुट गई हैं—निराकरण किया जाय । सूरदास अकबर के दरबार में गाने थे अथवा कभी गाने के विचार से उनके आग्रह पर उसके यहाँ गये थे अथवा उसके दरबार के गर्वदारामदास के पुत्र थे आदि बातों में कुछ तथ्य नहीं दिखाई देता । हाँ, मन्त्रेय अथवा इसकाम घाह शूर से उनका जो सम्बन्ध बताया गया है वह विचारणीय अवश्य है । उन्होंने कभी तुकसीदास को पत्र लिखा या सो भी मिया ही ठहरता है, और मिया है उस सूरदास से भी इनका सम्बन्ध जोड़ना जिसका वल्लेख अशुक्रप्रज्ञाल ने किया है । हाँ, प्रसंग वश इतना और भी निवेदन कर देना है कि ‘श्री भक्तमाल’ में सूर के सम्बन्ध में कोई पैवारा नहीं । उसमें तो केवल इतना कहा गया है—

सूर कवित सुनि कोन कवि जो नहि सिर चाकन करै ।

उक्ति, बोध, अनुमान, वरन, अरिषति अति भारी ।

वचन प्रीति निर्बाह अर्थ अद्भुत तुक चाँगी ।

प्रति विविध दिवि दृष्टि हृदय हरि लीला भासी ।

जनम करम गुन रूप सबै रचना परकासी ।

विमल बुद्धि गुन और की, जो यह गुन सवननि घरै ।

सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहि सिर चालन करै ॥

और ध्यान देने की बात यह है कि इस पर प्रियादास की कोई टीका भी नहीं । बात है भी यही । सूरदास को व्रज का विछोह मग्न नहीं हो सकता । उनको तो बस व्रज-व्रज में रमण करना है, और जीना है श्री गिरिधरन की जूठन में । कही जाना आना उनके विचार से बाहर की बात है । कान दे सुनिए—

बनि यह बृन्दावन की रेनु ।

नन्द किसो चरागत गैयाँ, मुखहि बजावत वेनु ।

मन मोहन को ध्यान घरै जिय, अति मुख पावन चेनु ।

चहत कहाँ मन और पुरी तब, जहाँ कल्लु लेन न देनु ।

इहाँ रहहु जहँ जूठनि पावहु, ब्रजवामनि कै ऐनु ।

सूरदास ह्यों की सरबहि नहिँ, बल्लभकुल सुर धेनु ।

—सभा स०-११०९ ।

सूर के अद्यमान के समय परासली में एक और भी विशेष घटना घटनी है । श्री गुसाई जी के सेवक 'चप्रभुजदास' को यह बात स्वकत है—
“सो ता समय सगरे वैष्णव श्री गुसाई जी के पास ठाढ़े हने । उनमें से चप्र-भुजदास ने बतयो जो—सूरदासजी परम भगवदीय हैं, और सूरदासजी ने श्री ठाकुरजी के लक्षावधि पद किये हैं । परंतु सूरदासजी ने श्री आचार्य जी महा-प्रभुन को जस बरनन नाही कियो ।”

इसका भी कुछ रहस्य है । सूरदास ने कभी भी बल्लभआचार्य का उस रूप में गुण-गान नहीं किया जिस रूप में श्री गोस्वामी विठ्ठलदास जी कराना चाहते थे और आश्चर्य नहीं कि इसी कारण सूरदास ने अपने आपको बल्लभ लीलों के कोटि में न रखकर हरिदासी और हरिवंशी बग में रखा हो । श्री बल्लभ-सम्प्रदाय पर विचार करते समय भूकना न होगा कि उसमें वेद और तंत्र का ही बोग नहीं है उसमें तो कुछ शायी रंग भी आ गया है । सम्प्रदाय में बल्लभकुल की जो प्रतिष्ठा है वह 'हमामकुल' की प्रतिष्ठा की छाया है । सूरदास इस छाया से दूर हो

रहे। उन्होंने श्री बल्लभ और भगवान को कभी एक नहीं समझा। सम्प्रदाय के बनी उन्हें कुछ भी कहते रहे पर उनके जीवन में प्रमाण तो उनकी निजी बाणी ही होगी।

श्री बल्लभ-सम्प्रदाय की मीमांसा में उतरने के पहले यह भलीभाँति जान लेना चाहिये कि उस समय भारतवर्ष में इसमाहृली सम्प्रदाय का प्रचार नाना रूपों में चल रहा था। कहीं प्रगट, कहीं प्रच्छन्न, कहीं गुप्त कहीं हिन्दू वेष में भी। इस सम्प्रदाय की विशेषता यह है कि यह अली तथा उनके वंशजों को बहुत महत्त्व देता है। इसकी चारणा है कि रक्त के साथ ही दिव्य अ्योति का प्रवाह भी वंशजों में बना रहता है। यही कारण है कि उस वंश में जो प्रमुख किंवा इमाम होता है उसका उपासना बहुत कुछ इष्टदेव किंवा तारक के रूप में होती है। आजकल के प्रसिद्ध इमाम सर आगा ख़ाँ जो हीरो से तोड़े जाते हैं इसी सम्प्रदाय के इमाम और कहे जाते हैं। ख़ाँजे और बोहरे जैसे इस कुलके ही रह हैं वैसे ही भाटिये बल्लभ कुल के। ऐसी परिस्थिति में श्री बल्लभ-सम्प्रदाय ने जो कुछ किया वह यही कि यदि मुहम्मद साहब भी बल्लभाचार्य के रूप में मानने आये तो अली श्री गोस्वामी विट्ठलदास के रूप में। उनके वंश का आगे का विस्तार भी इसी रूप में हुआ।

अभी अभी जो कुछ कहा गया है उसको और भी निकट से समझने के लिये श्री हरिराय जी कृत 'बड़े शिक्षापत्र' के अध्ययन की आवश्यकता है। उसमें 'शिक्षापत्र २४' में कहा गया है—

भक्तिमार्गे कृपापात्र करण परमुख्यते ।

तेनैव मार्गे सकल सिद्धिमेति न संशयः ॥ १ ॥

सा तु स्वाचार्यशरणागतौ तैर्ज्ञातः प्रभुः ।

यदेव कुरुते कृष्णस्तदा भवति सर्वथा ॥ २ ॥

इसको सम्प्रदाय की भाषा में भी समझ लेने में स्थिति आप ही स्पष्ट हो जायेगी—

वदार्थः—भक्तिमार्ग में कृपापात्र उत्तम कारण है या कारण तो ही सकल सिद्धि को पावेंगे संशय नाही। १।

यह कृपा तो अपने श्री आचार्य जी के शरण जाब तब इननें जतावे ऐसे प्रभु श्री कृष्ण जब से कृपा करेंगे तब निश्चय होगी ॥ १ ॥

विषय विचारणीय है अतः द्वितीय श्लोक की टीका भी देख लीजिये—

टीका—पुष्टिमार्ग में भाव अपने श्री बल्लभाचार्य जी के शरणागत होय रहे तब भी आचार्य जी जीव को श्री कृष्ण को जतावेंगे तब सर्वथा उह जीव पर श्री कृष्ण कृपा करेंगे ॥ १ ॥

श्री बल्लभाचार्य को परम पुरुष, परात्पर, परमात्मा प्रभृति मानने में कोई बात न थी। अवतार की भावना अपनी ही है। किन्तु इस प्रकार शपन की वह प्रणाली अपनी नहीं, पैगम्बरी है और है यह इसलामी प्रभाव।

श्री बल्लभाचार्य ने स्वतः इस शपन को आधार बनाया ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने तो अपनी आराधना में सूक्तियों की प्रेम-वीर को समेटा और इसलामी प्रभाव से अपना भक्ति के हस्त विग्रह-सेवा को साधु ठहराया। सेवा में मधुर-रस को लाना ठीक नहीं होता अतः उन्होंने उसे बाल-लाला के अर्पण कर दिया और बालकृष्ण की सेवा का ही इष्ट ठहराया। इस सेवा-प्रणाली में तत्र का योग है। श्री बल्लभाचार्य ने नाद और वेद दोनों का समन्वय कर जिस शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त ठहराया—वह सहृदयों और रसिकों के लिये सर्वथा उपयुक्त ठहरा और सूक्तियों का प्रेम-प्रचार यहाँ की भक्ति-सीमा को तोड़ न सका। एक ओर जहाँ इनका यह प्रेम-प्रसंग सहज और समरस को लिये हुए था वहीं दूसरी ओर सूक्तियों के वियोग को भी। हमारी समझ में श्री बल्लभाचार्य की सब से बड़ी देन यही है, और यही है श्री सुरदास की सब से बड़ी रचना। श्री बल्लभाचार्य ने कहा और सुरदास ने उसे घर घर फैला दिया। फिर तो सम्प्रदाय का विभूति की सूत्रों और कथतः भगुसाई का क' कुरा से 'कुल' का वैभव भी प्रभूत हुआ। उससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। सुरदास ने श्री बल्लभाचार्य की उपासना नहीं की। उन्होंने तो उनके तत्त्व को पकड़ा और उसी को सरस बाणी में व्यक्त किया। सुरदास को संक्षेप में जानना हो तो उनका यह पद कउरण करे—

मैं देख्यो जसुदा को नदन, खेलत आंगन बारी री ।
 ततछन प्रात पलटि गयो मेरो, तन-मन ह्वै गयो कारी री ।
 देखत आनि सँख्यो उर अतर, है पलकनि को तारी री ।
 मोहि आप भयो सखी, उर अपनै, चहुँ दिसि भयो उषारी री ।
 जो गु जा सम तुलत सुमेरहि, ताहु तै अति भारी री ।
 जैसे बूँद परत बगिचि मैं, त्यों गुन ज्ञान हमारी री ।
 हौं उन मोह कि वे मोहि मढ़ियाँ, परत न देह संभारी री ।
 तरु मैं बीज कि बीज मोह तरु, दुहुँ मैं एक न न्यारी री ।
 जल-पल-नभ कानन-घट भीतर, जहँ लौं दृष्ट पसारी री ।
 तितही तित मेरे नैननि आगै निरतत नद-दुखारी री ।
 तजो काज कुलकानि लोक की, पति गुरुजन प्योसारी री ।
 जिनकी सकुष देहरी दुलभ, तिनमें मूँह उषारी री !
 टोना-टामनि जंघ्र यंघ्र करि, ध्यायो देव दुभारी री ।
 सामु-ननद घर घर लिए डोलनि, याकी रोग बिचारी री ।
 कहौ कहा कछु कहत न आवै, ओरस लागत लारी री ।
 इनहि स्वाद जो लुब्ध सर सोह जानत ज्ञानन हागे री ।

—सभा सं०-७५३ ।

सूरदास ने अपने आचार्य के आदेश को पलकविन किया, वह भी बहुत कुल अभी तक हमारी आँख में ओझल है । भक्ति की दृष्टि से हम देखते हैं कि श्री बल्लभाचार्य भागवत हैं और श्री मद्भागवत को ही मूकप साधन ठहरते हैं । सूरदास ने भागवत का अनुसरण किया है परन्तु स्वयं नहीं । जहाँ कहीं उन्होंने जिसका अनुसरण किया है वहाँ उसका पता भी सुरत बता दिया है । इससे होता यह है कि हम सूरदास के अन्य स्रोतों को भी भलीभाँति जान लेते हैं और उनकी 'व्यामति' को भी पहिचान जाते हैं । श्रीमद्भागवत के प्रसंग में भी भूकना न होना कि उसका अनुसरण ठीक ठीक एक ही रूप में हुआ है । दूसरे रूप में बेछा और तत्ता नहीं । सरसागर के सम्पादकों में 'पहली लीला' और 'दूसरी

लीला' का निर्देश तो किया है किन्तु उनको समझाने का उद्योग उनसे न हो सका। रहे सूरसागर के समीक्षक, सो उनकी भी स्थिति प्रायः यही रही। यदि लोगों का ध्यान उचित रीति से यथार्थ में इस ओर जाता तो सूरसागर भी एक रूप में स्वच्छात्मक प्रबन्धकाव्य ही उहरता। सूरसागर में जो 'दूसरी लीला' कही जाती है उनको यदि एवञ्च किया जाय तो 'सूरसागर' खासा प्रबन्धकाव्य बन जाय, और उसका रूप बहुत कुछ उस रूप में प्रस्तुत हो जाय जिस रूप में 'पदमावत' है। इसमें सन्देह नहीं कि दूसरे रूप में भी जो प्रसंग आये हैं वे भी प्रबन्ध रूप में रचिये गये हैं। यह बात दूसरी है कि समय समय पर रचे जाने के कारण उनमें पुनरुक्ति हो गई है। एक ही विषय और एक ही भाव के कई पद बन गये हैं। ठीक वैसे ही जैसे स्वर्गीय रत्नाकर जी के 'उद्धव-शतक' में कई कवित्त ऐसे आ गये हैं जिनसे उसके प्रबन्ध-प्रवाह में बाधा उत्पन्न होता है। दोनों में अन्तर यही है कि 'उद्धव-शतक' में उनका मात्रा न्यून है और 'सूरसागर' में बहुत अधिक। स्मरण रहे 'दूसरी लीला' अथवा लम्ब वृत्त पदों में पुनरुक्ति नहीं है। नहीं, उनको तो एक एक सग कहा जा सकता है। उनमें से कुछ तो मन्मथ सर्ग ही हैं, किन्तु कुछ बहुत ही छोट। सगन्द काव्यों से 'सूरसागर' का यह स्वर भले ही न तुल्य पर 'रामचरितमानस' के 'सापानी' और 'पदमावत' के 'खड़ा' से इसकी तुलना तो सरलता से की जा सकती है।

'सूरसागर' में जो 'दूसरा लीला' कहा गई है उसका आशय यह नहीं है कि आदि से अन्त तक 'सूरसागर' में पहला और दूसरा लीला का विधान है। नहीं, सर्वत्र ऐसा नहीं है। कहीं कहीं एक ही लीला दो रूपों में है तो कहीं कहीं एक लीला एक ही रूप में। प्रबन्ध दोनों में है किन्तु सच्ची प्रबन्ध दृष्टि 'दूसरी लीला' में ही है। कहने का भाव यह है कि सूरदास ने जहाँ कथा अथवा वृत्त का महत्त्व दिया है वहाँ तो दूर तक एक ही अद्भुत धारा बही है किन्तु जहाँ भाव या रस को मुख्य ठहराया है, वहाँ ऐसा नहीं हो पाया है। रचना की दृष्टि से समस्त 'सूरसागर' को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है विनय के पद, अवतार के पद, बाळ-विनोद के पद भावता लीला के पद, और विरह के पद। इनके

अतिरिक्त अद्भुत लीला के पद भी जहाँ तहाँ मिलते हैं। इनमें विनय के पद तो सर्वथा मुक्तक हैं। बाळ-लीला के पद भी मुक्तक ही हैं, किन्तु प्रबन्ध के आधार पर। कृष्ण की बाळ लीला में जहाँ परित्राण और विनाश का वर्णन है वहाँ मुक्तक उपरान्त प्रबन्ध के रूप में वह बाळ लीला कही गई है। नाग का नाचना अथवा कमल पुष्प का लाना बड़े महत्त्व की लीला है। प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से यह सूरदास का सर्वोत्तम स्थान है। यह रुचा भी सूरदास को बहुत है। 'भावती लीला' वस्तुतः वह लीला है जिसे सूरदास सदा देखना चाहते हैं। यह लीला भी दो रूपों में हमारे सामने आती है— प्रकट और गुप्त। सूरदास ने इसे प्रबन्ध के रूप में ही लिखा है। प्रबन्ध धारा में वस्तु के दब जाने और भाव के उभर आने से यह लीला भी मुक्तक सी प्रतीत होती है। इसमें सूरदास ने किसी किसी लीला को प्रबन्ध का रूप भी दिया है। दान-लीला इसी दृष्टि की लीला है। इस 'भावती लीला' को हम कभी ऐश्वर्य के रूप में पाते हैं और कभी माधुर्य के रूप में। है तो दोनों ही रूप परन्तु भावती लीला का सन्ना सकेत है, माधुर्य लीला की ओर ही। बाळ लीला और 'भावती-लीला' में एक बड़ा भेद यह भी है। एक बाळ-लीला में अन्त में यह बताना आवश्यक नहीं समझा गया है कि अमुक बाळ-लीला की फलश्रुति क्या है, उसके पठन-पाठन का फल क्या है। किन्तु भावती-लीला में यह निर्दिष्ट है कि अमुक लीला का फल क्या है, और क्यों उसका पठन पाठन होना चाहिये। हमारी समझ में चौर-हरण लीला से भावती लीला का आरम्भ समझना चाहिये। इस लीला के अन्त में सूरदास ने कहा है—

जुवनिनि विदा दई गिरधारी । गई परनि सब खोब-कुमारी
बल्ल-हरन-लीला प्रभु कीन्हों । बल्ल-तननिनि ब्रत की फल दीन्हों ।
यह लीला सवननि सुनि भावै । औरनि सिक्खे आपुन गावै ।
सूर स्वाम जन के मुकदाई । दइताई मैं प्रगट कइदाई ॥

—सभा स०-१४१७

'यज्ञ पत्नी-लीला' में और भी स्पष्ट रूप में कहा गया है—

भक्ति भाव सौ जो हरि ध्यायै । सो नर नारि अभय पद-पावै ।
यह ङीळा सुनि गावै जोई । हरि की भक्ति सूर तिहि होई ।

—समा सं०-१४१८ ।

इसका कारण कदाचित् यह है कि सूरदास को 'भावती-लीला' ही इष्ट है और इस 'भावती-लीला' का प्रथम उल्कार है 'रास-लीला' में । उसी की ओर के जाने के लिये और भी अनेक सी भावती ङीळायें की गई हैं । सूरदास का इष्ट तो यह है—

रासरस रीति नहिं वरणि आवै ।
कहा वैसी बुद्धि कहाँ वह मन कहीं,
कहाँ इहचित्त जिय भ्रम भुलावै ॥
जो कहीं कौन मानै निगम अगम जो,
कृपा बिन नहिं या रसहि पावै ।
भाव सौं भजे बिन भाव में ए नही,
भाव ही भाव महँ यह बसावै ।
यहै निज मन्त्र यह गान यह ध्यान है,
दरश दम्पति भजन सार गाऊं ।
है मोखो बार बार प्रभु सूर के,
नेन हो रहै नर देह पाऊं ॥

—सूरसागर, १०-५३ ।

कारण यह कि—

रास-रस सुरली ही तें जान्यो ।
इयाम अघर पर बैठि नाद कियो मारग चन्द्र हिरान्यो ॥
वरणि जीव जल बल के मोहे नभमंडल सूर बाके ।
तुण द्रुम सलिल पवन गति भूके भवन शब्द परचो जाके ॥
बन्यो नही पाताल रसातल कितिक उदै लो भान ।
नारद धारद शिव यह मायक कहु ठनु रखो न खान ॥

बह अपार रस रस उपायो सुखो न देखौ नैन ।
नारायण मुनि मुनि लखाने श्याम अचर मुनि बैन ॥
कहत रमा सो मुनि मुनि प्यारी बिरहत है बन श्याम ।
मर कही हमको बेसो मुख जो बिलसवि ब्रज वाम ॥

—सूरमाग—१० ५५ ।

सूरदास ने जिस प्रधुर-रस को अपनी साधना का लक्ष्य बनाया वह 'भावती लीला' में ही सचता है। यही कारण है कि बाल-विनोद में भी यह लीला गुप्त रूप से चकती ही रहती है। जो कृष्ण यशोदा के लिए तनक में बालक है वह गोपियों के लिए भाँति भाँति की, अचारी करने वाले तरुण कृष्ण। यहाँ तक कि कृष्ण एक रूप में गोपियों को छेड़ते हैं। गोपियाँ जब किसी प्रकार उन्हें पकड़ पाती और पकड़ कर उनकी पूजा कराने के विचार से उनको यशोदा के पास लाती तब उनका और ही रूप हो जाता है और उन्हें लज्जित होने के अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं जाता। तात्पर्य यह कि इस 'भावती-लीला' का प्रसार कृष्ण जीवन में आदि से अन्त तक है। 'बिरह लीला' में प्रबन्ध का अपेक्षाकृत अभाव है। सूरदास ने उससे कुछ और ही काम निकाला है। इस बिरह-लीला के भी, सच पूछिये तो दो पक्ष हो जाते हैं—एक तो गोपियों के सम्बन्ध में और दूसरा कस अथवा तत्कालीन राज सत्ता के जगाव से। वहाँ भी घटना की दृष्टि से जो रचना हुई है वह प्रबन्ध के रूप में है और कीर्तन की दृष्टि से जो हुई है वह मुक्तक के रूप में। सारांश यह कि यह प्रबन्ध और यह मुक्तक की धारा वहाँ भी चकती रही है और बनी रही है 'सरसागर' के अन्त तक। अन्तर केवल माया और उत्कर्ष का है, कुछ विधान और प्रसंग का नहीं।

अब रही 'अवतार लीला'। अवतार-लीला कृष्णावतार से पहले भी जाती है और पीछे भी। पंछे की तो बस कहने को है। पहले की लीला भी कुछ विशेष रूप से नहीं कही गई है। किसी अवतार को प्रबन्ध के रूप में एक ही पद में कह दिया गया है तो किसी को मुक्तक के रूप में छोटे-छोटे कई पदों में। कामप्रवतः

यह कहा जा सकता है कि अवतार-लीला प्रबन्ध के रूप में ही अंकित हुई है, स्फुट रूप में बहुत थोड़ी। अन्य अवतारों में सबसे महत्त्व का अवतार है रामायण तार। इस अवतार में सूरदास की कृति अन्य अवतारों से कहीं अधिक रमी है, और फलतः इसकी रचना भी स्फुट रूप ही में अधिक हुई है। अच्छा यह हुआ है कि सूरदास ने इसमें एक ही भाव को कई बार दोहराया नहीं है। यदि प्रसंग कुछ बड़ा हुआ तो पद भी कुछ बड़ा बन गया। अन्यथा संक्षेप में कहकर उसे समाप्त किया गया।

‘अद्भुत-लीला’ कोई स्वतंत्र लीला नहीं। किसी भी लीला के बीच में जो अद्भुत प्रसंग आ जाता है वही अद्भुत-लीला है। इस लीला का एक मात्र उद्देश्य होता है कृष्ण के परम रूप के बोध कराने का। कृष्ण सामान्य व्यक्ति नहीं, परम पुरुष परमात्मा और विष्णु के अवतारी और अवतार हैं वही उसका लक्ष्य है। इस शक्ति का प्रदर्शन जहाँ कहीं होता है वह सामान्य जनता में अद्भुत होता है, जो कभी किसी सम्बन्ध से किसी पर किसी रूप में प्रकट होता है और कहीं किसी पर किसी रूप में। यह अद्भुत-लीला कृष्ण चरित में जहाँ-तहाँ तो है ही, अन्यत्र भी अपने मूल रूप में विराजमान है।

प्रबन्ध की दृष्टि से देखा जाय तो सूरसागर को प्रबन्ध-काव्य कहने में कोई विशेष क्षति नहीं। हमारी दृष्टि में सूरसागर को चरित-प्रबन्ध वाक्य नहीं कहा जा सकता। और नहीं कहा जा सकता उसको कथा-प्रबन्ध काव्य। कारण यह कि सूरदास का ध्यान न तो कृष्ण-चरित पर रहा है और न उनकी जीवन गाथा पर ही। उनका ध्यान तो रहा है कृष्ण के सगुणरूप और लीलावनार पर। अतः सूरसागर को ‘लीला-प्रबन्ध काव्य’ कहना चाहिये। लीला में जहाँ कथा दृष्ट है वहाँ पका प्रबन्ध है जहाँ रस और भाव की बात है वहाँ मुक्तक की सरी है। वस्तुतः सूरसागर भाव-प्रबन्ध-काव्य है, वस्तु-प्रधान वा चरित-प्रधान नहीं। सूरसागर का निर्माण इस दृष्टि से हुआ है कि यदि हम चाहें तो उसे छोट कर दो रूपों में प्रकट कर सकते हैं प्रबन्ध रूप में और मुक्तक रूप में भी। अवश्य ही मुक्तक रचना प्रबन्ध रचना से ऊँची सिद्ध होगी परन्तु प्रबन्धों में कुछ प्रबन्ध ऐसे

भी निकलेंगे जिनकी भुलना उनकी मुक्तक रचना नहीं कर सकती। सारास यह कि कुछ प्रसंग प्रबन्ध के रूप में जितने करे उतरे हैं उतने मुक्तक के रूप में नहीं। 'दान-बीला' इसी कोटि की बीला है। और इसी कोटि की बीला है 'नाग-बीला' भी।

सूरदास के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि उन्हें भी वल्ग्वच-कुल के सर्कार्ण क्षेत्र में देखना ठीक न होगा। सूरदास के विनय के पदों के अध्ययन से पता चलता है कि अपने जीवन के आरम्भ में कभी न कभी उनमें राम की भावना प्रबल थी जो भी बल्लभाचार्य के मधुर रस के प्रवाह में आगे चल कर लुप्त हो गई। सूरदास के सम्बन्ध में भूलना न होगा कि सूरदास राम और शिव के प्रसंग में उतने कट्टर नहीं जितने कि निगुण्य के प्रसंग में। राम के विषय में कुछ कहने के पहले देखना यह हागा कि शिव के प्रति सूर की भावना क्या है। सूर कहते हैं—

सखि री, नन्दनन्दन देखु ।

धुरि घुमार जटा जुटल, हरि किये हर मेघ ।
नील पाट पिराह मन गन, सनेग धोवै जाह ।
लुनलुना कर, हसति हरि, हरनखन डमक बहार ।
जलज माक गुपाक पहिरे, कहा कहीं बनाह ।
मुँह माळा मनो हर गर, एसी सोभा पाह ।
खनि-मु-माक बिराजत स्याम तन हरि भाह ।
मनो गगा गोरि हरि हर कई कंठ लगाह ।
केहरि-नख निरखि हिरदे, रही नारि बिचारि ।
बाक-सखि भागु भागु तैं ले, उर ब-सौ त्रिपुरारि ।
देखि अंग अनग ललखौ नन्द मुन हर जान ।
सूर के हिरदे बसो निग, भाव शिव को ध्यान ।

अन्तिम पंक्ति से प्रत्यक्ष ही है कि सूरदास यहाँ शिव और श्याम को एक ही रूप में ध्यावते हैं। विन्तु यह तो काव्य की छटा ठहरी। इस कला के भीतर कुछ भावना भी तो होनी चाहिये। अच्छा इसे भी देख लीजिये।—

हरि-हर संकर, नमो नमो।

अहिंसाह, अहि-अग-बिभूषन, अमित दान, बळ विष हारी।

नीलकंठ, वर नील कलेवर, प्रेम परस्पर-कृतहारी।

चन्द्र चूष, सखि-चन्द्र-सगेरुह, जमुना प्रिय, गंगा-धारी।

सुरभि-रेनु-नु, भस्म विभूषित; वृष वाहन, वन वृषचारी।

अज-अनीह अविरुद्ध-एकरस यहै अधिक ये अवतारी।

सूरदास सम, रूप नाम-गुन अतर अनुचर अनुसारी।

—सभा सं०—७८९।

सूरदास ने अपना निर्णय देने में तनिक भी संकोच नहीं किया। एक ओर कृष्ण की अवतारी वह वर परस्पर टहगाया तो दूसरी ओर शिव और श्याम को 'अनुचर' और 'अनुसारी' बतलाया। शिव, श्याम के अनुचर हैं तो श्याम भी शिव का अनुसरण करते हैं। दोनों में वही विशेष लेशमात्र को नहीं है और जो अन्तर है वह अपनी भक्ति-भावना के कारण। यहाँ यह भ टॉक रखना होगा कि भी बहकभाचार्य की गणना गौड़ सम्प्रदाय में होती है। तो भला सूर शिव की उपेक्षा उनकी शिष्यता के नाते भी कैसे कर सकते थे? अब रही राम की स्थिति। सो, इतने से ही जान लीजिए कि कृष्ण वस्तुतः अपने आपको क्या समझते हैं। करते हैं—

सुनि सुत, एक कथा कहौ प्यारी।

कमल नैन मन आनंद उपज्यो, चतुर स्त्रोमनि हेत हुँकारी।

दसरथ नृपति हुतौ रघुवंसी, ताके प्रकट भए सुख चारी।

तिन मैं सुकृप राम जो कहिकत, जनक मुदा ताकी कर नारा।

तात-वचन कति राख तबो नित, अनुब, धरनि सँग भए बन चारी।

बाधत कनक-मृगा के पाछे, राजिव जोचन परम उदारी ।
रावन हरन सिया की कीन्ही, सुन नदनदन नीद नवारी ।
चाप-चाप कर छटे सूर प्रभु, लछिमन बेहु, जननि भ्रम भारी ।

—सभा सं०—८१६ ।

सूर के राम कितने हृदयालु और वीर हैं इसे भी जान ले तो पता चले कि
सूर छोड़ने किसी को नहीं, पर गहने हैं 'रास-रस-रसिक' कृष्ण को ही । उनके
राम—

फिरत प्रभु पूछत बन द्रुम बेछी ।

अहो बधु, काहूँ अबलकी इहि मग बधु अकेला ।
अहो विहग, अहो पन्नग नृप, या कदर के राई ।
अबकै मेरी विपति मिटावौ जानकि देहु बनाइ ।
चपक-पुहुप-बरन-जन सुन्दर, मनो बिष अवेरली ।
हो रघुनाथ, निसाचर कै सग अबै जान हो देखी ।
यह मुनि बाधत धरनि, बरन की प्रातमा पब मै पाई ।
नेन नीर रघुनाथ सानि सौं, सिव उधौ गात बदाई ।
कहूँ हिय हार, कहूँ कर कगन, कहूँ रूप, कहूँ खार ।
सूरदास बन बन अबलोकत, बिलस बदन रघुबीर ॥”

—सभा सं०—५०८ ।

कविव और हृदय का तो कहना ही क्या ? अब जीव की पुकार पर उठार
की तत्परता भी देख लीजिए । हमी शग—

दुम लछिमन वा कुन कुटी मै देखी जाइ निहामि ।
कोउ इक जीव नाम मम ले ले उठत पुकारि-पुकारि ।
हननी कहत कब तै कर गहि जागहो धनुष सैभारि ।
कूपानिधान नाम हित बाए, अगनी विपति बिमारि ।
अहो बिहंग, कहो अपनी दुख, पुँछति नाहि खरारि ।

कहि मति मूढ़ हत्यो तनु तेरो, किछो बिछोही नारि !
 श्री रघुनाथ रमनि, जग जननी, जनक नरेस कुमारि ।
 ताको हरन कियो दसकचर, हो तिहि लग्यो गुहारि ।
 हतनी सुन कृगालु कौमल, प्रभु दियो धनुषकर सारि ।
 मानो सूर प्रान ले रावन गयो देहि को डारि ।

—सभा सं०-५०९ ।

अन्त में सूर की अपने इस प्रभु से यही प्रार्थना है और है यही अक-
 चन भी—

बिननी किंहि बिधि प्रभुहि सुनाऊँ ।
 महाराज रघुबीर धीर को, समय न कबहुँ पाऊँ ।
 जाम रहत जमिनिके बीतै, तिहि ओसर उठि पाऊँ ।
 सकुच होत सुकुमार नीद मैं, कैसेँ प्रभुहि सुनाऊँ ।
 दिनकर-किरन, उदित, नखादिक-रुद्रादिक दह ठाऊँ ।
 अगनित भीर अमर मुनि गन की, तिहि तैं ठोर न पाऊँ ।
 उठत सभा दिन मधि, सैनापति-भीर देखि, फिर आऊँ ।
 न्हात न्हात सुख करति साहिबि, कैसेँ करि अनलाऊँ ।
 रजनी मुख आवत गुन-गावन, नागद हँसुर नाऊँ ।
 तुम्ही कहो कृपानिधि रघुननि, किहि गिनती मैं आऊँ ।
 एक उपाय करो कमलावति, कहो तो कहि समुझाऊँ ?
 पतित-उधारन नाम सूर प्रभु, यह करका पहुँचाऊँ ॥

—सभा सं०-५१६ ।

राम की मर्षादा सूर को स्वीकार तो है पर उसमें उनकी वृत्ति वैसी नहीं रमती
 जैसी कि गिरिधर की मधुर-बीजा में । इसी से सूर पुष्ट को अपनाते पर खादने
 मर्षादा को भी है । सूर को नित्य-बीजा में जो रस दिखाई देता है वह अवतार-
 बीजा में नहीं । सूरदास ने मधुर-रस का जैसा कोक-कलामय चित्रण किया है

वैसा किसी अम्ब ने नहीं। सूरदास का शृंगार अपने क्षेत्र में निराणा है। जहाँ कहीं सूर ने सम्भोग का वर्णन किया है वहाँ उसे छिपाकर रक्खा है। उसे उधार कर सब के सामने प्रस्तुत नहीं किया है। सूरदास ने रूपकालिषोक्ति और कूट के द्वारा बड़े ही मुन्दर ढंग से इसे दिखाया और बड़े ही रम्य तथा मुबारक रूप में अंकित भी किया है।

सूरदास के शृंगार-वर्णन में कृष्ण बहुबलकम्प हैं किन्तु उनकी विशेष रति राधा में ही है। सूरदास जहाँ कहीं दम्पति शब्द का प्रयोग करते हैं वहाँ उनका अभिप्रेत यही होता है कि राधा उनकी स्वामिनी और कृष्ण उनके स्वामी हैं। राधा और कृष्ण का जो यह सम्बन्ध है वह देश-काल से सर्वथा मुक्त है। अम्ब गोपियों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। उनको तो सूरदास ने वेद की श्रुति माना है। भुक्तियों की कैलि-कामना के उत्तर में रास-बिहारी कृष्ण ने कहा—

मधुरा मङ्गल भरत-खड निज चाम हमारे।
 चरौ तहाँ मैं मोप-मोप सो पय निहारे।
 तब तुम होइकै गोपिका करिहो मोसा नेह।
 करौ कैलि तुम मो मदा मय्य बचन मम यह।
 भुक्ति मुनिके हरिवचन भाग्य अपनी बहुत मानी।
 चितवन लागे समय दिवस मो जात न जानी।
 भार भयो जब पृथ्वी पर तब हरि कियो अवतार।
 वेद श्रुति होइ गोरिका हरि सो कियो बिहार।
 जो कोइ भरता-भाव हृदय चरि हरि पद ध्याये।
 नारि पुरुष को होइ भुक्ति श्रुति गति सो पाये।
 तिनके पद रज जो कोइ मृदावन भूमहिं।
 परसै सोउ गोपिका गति पाये सद्य नहि।

किन्तु राधा के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। सुरदास ने उनका संक्षिप्त परिचय एक प्राण दो देह के रूप में ही सदा दिया है और अन्त में यह भी कह दिया है कि कृष्ण सभी सखियों का सन्तोष कर अन्त में राधिका के ही हो रहते हैं, और फिर किसीके पास जा उन्हें 'खडिता' नहीं करते। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि सुरदास का जो अन्तिम पद कहा जाता है वह सुरति लक्षिता राधा के रूप का वर्णन ही है। सुरदास ने एक एक करके मुख्य सात सखियों के साथ कृष्ण-कीर्ति दिलाई है, और अन्त में वृषभानुनन्दिनी के पास लाकर छोड़ दिया है और निश्चय के साथ कह भी दिया है—

ता दिन ते वृषभानु नन्दिनी अनत जान नहि दांढें ।

सुरदास प्रभु प्रीति पुरातन यहि बिधिरस बस कीन्हें ।

—सुरसागर १०-८५ ।

राधा-कृष्ण वस्तुतः एक ही हैं, ऐसा मानने में किसी को आपत्त नहीं, परन्तु विवाद इस बात का है कि राधा-माधव का सम्बन्ध क्या था, पति-पत्नी वा प्रिय-प्रिया का। सुरदास का शृंगार इतना सयत है कि लोग उसको देखकर यह नहीं कहते कि यह हितकर नहीं है। सुरदास ने यह भी स्पष्ट कह दिया है कि जिसको रास कहते हैं वास्तव में वह गन्धर्व-विवाह है। इस गन्धर्व-विवाह के कारण लोग राधा को परकीया नहीं मानते, और अधिकार के साथ कहते हैं कि सुरदास परकीयावादी नहीं थे। परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं जैवता कारण यह कि सुरदास ने रास का जो वर्णन किया है वह गुप्त लीलाके रूप में। उन्होंने इस गुप्त-लीला को कभी प्रगटकर सबके सामने नहीं दिखाया है। परकीया और स्वकीया का सीधा भेद यही है कि परकीया का प्रेम गुप्त होता है और स्वकीया का प्रकट। परकीया भी दो रूपों में हमारे सामने आती है। एक तो कन्या अथवा अनूठा के रूप में और दूसरी विवाहिता अथवा ऊढ़ा के रूप में। सुरदास की राधा अनूठा अथवा कन्या है इसमें सन्देह नहीं। सुरदास ने राधा और कृष्ण का प्रथम कैलि का जो वर्णन किया है वह हम गन्धर्व-विवाह से बहुत पहले का है। सुरदास कहते हैं—

नद गए स्वरिन्हिँ हरि जीन्हें ।
 देखि तहाँ राधिका ठाढ़ी, बोळि छिये तिहि जीन्हें ।
 मगर कस्यो खेळो तुम दोऊ, दूरि कहूँ जिन जेहो ॥
 गनती करत ग्वाल गयन की, माहिँ नियगौँ तुम रेहो ॥
 मुनि बेटी वृषभानु महारि की, कान्हिँ तेहँ लिखाय ॥
 मूर स्याम कौँ देखे रहिहो, मारेँ जानि कोउ गाइ ॥

—सभा सं०-१२९८ ।

नन्द ने कृष्ण को राधिका के हाथ सौरा क्या राधा को अच्छा अवसर हाथ लगा । परिणाम यह हुआ कि नन्द ने राधिका से फिर कहा कि कृष्ण को साथ पर लें जा । कारण कि—

पवन सकलोर, चरला चमक चहुँ भरे,
 मुवन तन चितेँ नद डरन भारी ।
 कस्यो वृषभानु की कुँवरि सो बोळि कै,
 राधिका कान्हँ पर लिऐ जारी ।

—सभा सं०-१३०२ ।

इससे हुआ यह कि—

नवल गुपाल, नवेली राधा, नये प्रेम रस पागे ।
 अन्तर बन बिहार दोउ कहत, आपु आपु अनुपागे ।
 सोमित शिथिल वसन मनमाइन, मुखवत अम के पागे ॥
 मानहुँ कुसौ मदन की आका, बहुरि ममारनि कागे ।
 कबहुँक बेठि अम भुज धार के, पीक कपोतनि पागे ॥
 अति रस रास लुटावन लूटत, लाजनि लाज सुपागे ।
 नहिँ छूटति रति कचिर मामिन, वा रस में दोऊ पागे ॥

—सभा सं०-१३०४ ।

इससे स्पष्ट है कि राधा और कृष्ण की प्रीति का आरम्भ रास-लीला के बहुत

पहले ही हो गया था और समय समय पर गुप्त रूप से किसी न किसी व्याज से वह केजि सदा होती भी रही थी। सुरदास ने जो कुछ किया वह यह नहीं था कि परकीया को स्वकीया बना दिया, प्रत्युत यह था कि उन्होंने परकीया प्रेम को इस ढंग से अंकित किया उसमें किसी प्रकार का कलमष नहीं रहा। सुर ने पहली बात तो यह की कि उन्होंने राबिका को अन्य गोपियों से अलग रखा। गोपियों का स्वरूप यह था कि स्वयं कृष्ण को उनसे कहना पड़ा—

बहि बिधि वेद मारग सुनो ।
कपटि तजि पति कौ पूजा कहा तुम जिय गुनो ।
कंत मानहु भव तरोगी और नहि न उपाय ।
ताहि तजि क्यों विपिन आई कहा पायो भाइ ।
विरध भरु बिन मगहूँ को पतित जो पति होइ ।
जऊ मूरख होइ रोगी तजै नाहि कोइ ।
इहै मैं पुनि कहत तुमसौ जगत मे यह सार ।
सूर पति सेवा बिना क्यों तरोगी समार ।

—सूरसागर, पृष्ठ ४३३, १०-२० ।

गोपियों का वचन है—

तुम पावत हम घोष न आई ।
कहा जाहि लेई ब्रज मे हम यह दरशन प्रभुवन मैं नाही ।
तुमहु ते ब्रज दिन कोऊ नहि कोटि कहो नहि मानै ।
काके पिता मात है काके काहु हम नहि जानै ।
काके पति मुन मोह कोन को घर है कहाँ पठावन ।
कैसे धर्म पाप है कैसे अस निराश करावन ।
हम जानै केबल तुमहि को और वृथा संसार ।
सूर ब्यास निठुराह तजिये वचन बिसारि ।

—सूरसागर, पृ० ४३४, ७ ।

द्विज क्या था उनकी बात रही और उनका मत पूरा हुआ। और—

रस बस स्थाप कीन्ही नारि ।

अधर रस अचबत परस्पर सग सब ब्रजनारि ॥

काम आतुर भजी बाळा सबन पुरई आश ।

एक एक ब्रजनारि एकहक आप कश्यो प्रकाश ॥

—सूरसागर, ४४०-४४१ ।

हाँ, 'कोक-विलास' तो सबके साथ हुआ पर पाणि ग्रहण हुआ केवल नृप-भानुतनया के साथ । सूरदास कहते हैं—

भी ठाळ गिरधर नवळ दूळह, दुळहनी भी राधा ।

—सूरसागर- ४४१ ।

साथ ही उनका यह भी कथन है—

जाको व्यास वरणत रास ।

है गन्धर्व-विवाह चित्तदे सुनो विविध विकास ।

—सूरसागर-४४१ ।

सूरदास ने दुलहनि का पद केवल राधा को दिया है और विवाह का सारा उपचार भी उन्हीं के साथ हुआ है । कलनः राधा-कृष्ण अम्बो से अलग दिखाई देते हैं । किन्तु ध्यान रहे उनका विवाह भी गन्धर्व-विवाह के रूप में ही है किसी अन्य विवाह के रूप में नहीं । इस विवाह में गोपियों का योग है, प्रकृति का योग है, विधाता का योग है, देवता का योग है, काम का योग है पर माता पिता का सक्रिय योग नहीं, समाज का सहयोग नहीं । अतः इसको स्वकीया का प्रकट विवाह नहीं कह सकते । हमसे इतना अवश्य हो जाता है कि वह तत्काल वासना के रूप में न होकर विहित भावना के रूप में हमारे सामने आता है और राधिका जोष नारियों से भिन्न दिखाई देती है ।

सूरदास ने यह भी किया है कि आरम्भ से ही नन्द और यशोदा के हृदय में वह भावना उत्पन्न कर दी है कि राधिका कृष्ण के योग्य है । दोनों का विवाह हो जाता तो अच्छा था । वही नृपभानु के घर की भी स्थिति है । इसका प्रभाव

बह पड़ता है कि हम इस जोषी की काम-कैलि को व्यभदा की दृष्टि से नहीं देखते और यह मान लेते हैं कि यही तो होने को है। यही तो सब लोग चाहते भी हैं। राधिका पर पटक़ार पड़ती है। उसकी लोक-निन्दा होती है परन्तु उसकी चातुरी से उसकी निभ जाती है और किसी न किसी बहाने कहीं न कहीं राधा कृष्ण का समागम हो ही जाता है। सच तो यह है कि सूरदास ने गुप्त लीला को प्रकट-लीला से सर्वथा मिन्न रक्खा है और समय समय पर बराबर यह बताते रहे हैं कि विकास और आनन्द के हेतु ही एक प्राण दो शरीर में विभक्त हो गया है। और वही राधा कृष्ण के रूप में नित्य रस-लीला कर रहा है। नित्य-लीला की दृष्टि से पाणि प्रहण का कोई प्रद्वन नहीं। और रस के दृष्टि से परकीया का महत्व मान्य है ही। समाज की दृष्टि से भी सूर ने उसको निल्वार कर रखने का प्रयत्न किया है और इसमें सफल भी हुए हैं। उसकी सफलता इसी निल्वार, इसी योजना और इसी विधान में है, कुछ स्वकीया और परकीया के भेद में नहीं।

सूर का शृंगार प्रबन्ध के रूप में चला है और एक प्रसंग के उपरान्त दूसरा प्रसंग बराबर आता रहा है। कृष्ण के प्रति गोपियों का जो रति भाव है वह बराबर धीरे धीरे बढ़ता गया है और अन्त में 'महारस' का प्राप्ति में मग्न हो गया है। सूरदास के कृष्ण उनके साथ भौंति भौंति की कैलि करते हैं। उनकी कैलि का रंग भी अलग अलग होता है और दृग भी। कृष्ण किस दृब से गोपियों को लिखाते, बुलाते और रिखाते हैं इसे 'सूरसागर' में कहीं भी देखा जा सकता है उसके विषय में कुछ विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नहीं। बस, उनके मुरलीधर की एक छटा देख लीजिये और फिर उनके मम को समझिये। उनसे किसी सत्ता की प्रार्थना है—

छवीके मुरली नेक बजाउ ।

बलि बलि जात सत्ता यह कहि कहि अखर सुधारस पवाउ ।

दुर्लभ जन्म दुर्लभ कृन्दावन दुर्लभ प्रेमतरंग ।

ना जानिये बहुरि कब है है इवाम तुम्हारो सग ।

किनती करहि सुबल भी दाम मुनहु दे कान ।

जा रस को सनकादि शुकादिक करत अपर मुनि प्यान ॥
 कब पुनि गोष मेघ बज धरिही धरिही सुरभिन साध ॥
 कब तुम छाक छीन के खेही हो गोकुल के नाथ ॥
 अपनी अपनी कंस कमरिया खालन दई हमाय ॥
 सोई दिवाइ नन्ददा की रहै सकल गह पाय ॥
 मुनि मुनि हीन गिरा मुरखिधर चितप मुख मुसकाए ॥
 गुणगभीर गोपाल मुरलि कर कीन्हो तवाह उठाए ॥
 धरि कर बेनु अधर मन मोहन कियो मधुर धनि गान ॥
 महे सकल जीव जल थल के मुनि तरयो तन प्रान ॥
 खल नयन भ्रुकुटी नासापुट, मुनि मुन्दर मुख बैन ॥
 मानहु नृत्यक भाव दिखानत गनि किय नायक मैन ॥
 चमकन मोर चन्द्रिका माये कुञ्चित अलक मुभाक ॥
 मानहु कमल कोष रम खावन उडिपाए अलिवाल ॥
 कुडक लोल करोकन झकडन ऐसी शोभा देत ॥
 मानहुँ मुषामिन्धु में कूडत मकर पान के दंत ॥
 उपजावन गावन गति मन्दर अनापान के ताल ॥
 सरबम दियो मदन मोहन को प्रेम हरषि सब खाक ॥
 शोभित वैजनी चरणन पर श्वास पवन झकोरि ॥
 मनहु ग्रीव सुरसरि बहि बाधत बल कमंडलु कोरि ॥
 हुकान लता नहि पाकत मन्दगति मुनि मुन्दर मुख बैन ॥
 लग मृग मोन अचीन पय सब कियो यमुन जल सेन ॥
 लक्ष्मकात भृगु की पद रेखा सुपग लीखे गान ॥
 मानो फट बिषु एक रय बैठे उदय कियो अचगत ॥
 बाँके चरण कमल मुख बाँके अस्त्रोदनि बु अनूर ॥
 मानहु कल्प तरोवर बिरवा धानि ख्यो सुर भूप ॥
 आनहु बिबो गुणाक सवन को सुखदायक भिव जान ॥

सूरदास वरणन रज मोगत निरखत रूपनिधान ॥

—सूरसागर, पृ० ५३६, २५।

सारांश यह कि व्रज में जो कुछ रस-केलि हुई इस मुरली और इस रूप के कारण ही। इस रूप और इस मुरली को सूर ने जिस-जिस ध्वनि में देखा है उस पर विचार करना स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। सधेप में यही सूर का सर्वस्व है। सयोग में भी और वियोग में भी, मान में भी और प्रवास में भी, घर में भी और बाहर भी।

सूरदास की दानलीला, मानलीला, खीरहरण लीला आदि लीलाओं को देखने से पता चलता है कि उनका इस रसगज पर कितना अधिकार था। साथ ही भूला, हिंडोला और होली का वर्णन भी कुछ कम रोचक नहीं है। व्रज की होला आज भी प्रसिद्ध है। इस होली के वर्णन में वसन्त का जो वर्णन आया है वह कितना सटीक है इसे जानना हो तो सूरदास का यह पद सुने—

सुन्दर वर सनि कलना विहरी वसन्त सरस ऋतु आई ।
लै ले लरी कुँवरि राधिका कमल नयन पर धाई ॥
द्वादश वन रतनारे दिखियत चहुँ दिग टेमू फूट ।
घोरे औंठुवा रुद्र द्रुम बेडी मधुक पगिमल भूले ॥
सरिता शीतल बहत मन्द गति रवि उत्तर दिश आयो ।
प्रेम उमंग कोकिला बोली बिरहिन बिरह जगायो ॥
ताल मृदंग बोन, बाँसुरी डक गावत मधुरी बानी ।
देत परस्पर गारि मु दत हूँ तरुणा बाल सवानो ॥
सुरपुर, नरपुर नागलक जल पल काणा रस पाये ।
प्रथम वसंत पंचमी बाला सूरदास गुण गाये ॥

—सूरसागर पृ० १४८ ९१।

इसमें वसन्त ऋतु किंवा वसन्त-पंचमी का जो रूप अंकित हुआ है वह प्रकृति और जीवन के सभी अंगों को लपेट हुए है और है व्रज का होली के सबका अनु-

कूल । इस होली में कृष्ण की कैसी गति बनती है इसे भी देख लेना चाहिये ।
कहते हैं—

खेलत श्याम पाग खालन सन ।
एक गावत एक नाचत एक करत बहु रग ॥
बीन मुरख उपग मुरली सील झकार ताक ।
पटत हारा बोलि गोरी निरखि कं ब्रजबाण ॥
कनककलछन धोरि केसर करखिए ब्रजनारि ।
जबहि आवत देखि तरुनन भञ्जत दे केलकारि ॥
दुरिही एक पारि जनिता उतते आवत श्याम ।
धरे धरि ओकवारि ओचक धाय आय ब्रज वाम ॥
बहुन टाटो देरदे हो जननी अब आज ।
राधिका दुग है भूत ठाढ़ा निरखि पिय मुख काजु ॥
जियो कादू मुरालि करत कोउ गछा पटपीट ।
गूँथ बेना भाग पारे काचन भाँज अनीति ॥
गये करत छटक माहन नारे सब पछितात ।
शीघ्र खनि कर माज बाजन मज्जी लेगी भाँति ।
दौब हम नहि देन पायो बसन केती जाक ।
सु प्रभु कहाँ जाउगे भव हम परी यह कथाक ॥

—मुरसागर, पृ०-५५५-१५ ।

एक एक तिथि को लेकर सूरदास ने होली का जो रंग उखाड़ा है वह साहित्य क्षेत्र में अनूठा है । इधर यह रंग ब्रज में उब रहा था उधर कंस को कुछ और ही चिन्ता ने आ घेरा । ब्रज के काम नहीं चाहते कि कृष्ण इस होली में इस धमार को छोड़ कर कहीं अन्यत्र जायें और राधिका तो चाहती ही नहीं कि कृष्ण होली छोड़ कर मधुवन की यात्रा करें ।—

सूर रसिक मण गाधका हरि होगी है ।
काह गिरधर सो बात भदो हरि होरी है ।

श्याम कृपा करि ब्रज रहौ हरि होरी है ।

बरजति मधुवन जात अहो हरि होरी है ।

—सुरसागर, पृष्ठ-५७१, २८ ।

श्याम का अवतार केवल ब्रज विकास के लिये ही तो था नहीं कि वह कहीं न जाते और सदा ब्रज में ही बिचरते रहते । निदान दुष्ट-दलन के लिये उन्हें मथुरा जाना पड़ा और वहाँ जाते ही पके मयुरिया भी बन गये । उनके वियोग में ब्रज की जो दशा हुई उसको सुर ने अपनी सभी आँखों से ऐसा देखा कि उसकी साध सबको बग गई । यशोदा चाहती है और सुर उसे वाणी का रूप देते हैं—

यशोदा बार-बार यो भालै ।

है कोउ ब्रज में हितु हमारो चलत गुगलहि गलै ॥

कहा काज मेरे लगन मगन को नृप मधुपुगी बुझाए ।

सुफलक सुत मेरे प्राण हतन को काळ रूप हँ आयो ॥

बहु ए गोधन हरी कस सब मोहि बान्द लै मेळी ।

हतने ही सुख कमल नैन मेरी आँखियन आये खेळी ॥

बासर बदन बिलोकत जीबो निश निज अकम लाउँ ।

तेह निहुरत जो बिबो कर्मइश तो हसि काह बुलाउ ।

कमल नैन गुन टेरत टेरत अधर बदन मुखानी ॥

सुर कहाँ लागि प्रगट जानाउँ दुखित नदन की रानी ।

—सुरसागर पृ० ५८२-११ ।

इस प्रसंग को और बढ़ाने के पहले ही इतना निवेदन कर देना है कि एक दिन अकबर की अकरली सभा में इस बार-बार की वर्षा किसी और किसी ने इसका कुछ अर्थ किया तो किसी ने कुछ पर किसी को वह न कहा कि इसका अर्थ स्वयं सुरदास से पूछ लिया जाय । सुझा भी कैसे ? उस समय सुरदास तो थे ही नहीं । जो जोय सुरदास का किसी प्रकार अकबरी दरबार से कोई न कोई नाता सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं उनको इस बात पर विचार करना

चाहिये कि हम अवसर पर किसी को सूरदास की बिना क्यों नहीं हुई और क्यों नहीं किसी प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थ में अकबर और सूर के सत्सङ्ग का कोई उल्लेख मिलता है।

सूर ने विरह का वर्णन अनेक अवसरों पर अनेक रूपों में किया है किन्तु इनके विरह का सच्चा रूप दिखाई देना है उदय के प्रथम में। इस प्रथम के वर्णन में सूर ने कुछ उठा नहीं रखा। सूर के सयोग पक्ष में जो मुरली का स्थान है वियोग पक्ष में वही मधुकर का है। मधुकर का प्रसंग बहुत सोच समझ कर निकाला गया है। माना कि 'वैष्णु-गीत' और 'भ्रमर-गीत' की कल्पना सूर की अपनी नहीं तो भी इनका तो सभा 'लोगी' मानना ही होगा कि सूर के 'मुरली-गीत' और 'भ्रमर-गीत' में बहुत कुछ उनका अपना है। 'भ्रमर-गीत' में सूर ने जो कार्य साधे है वह उस समय का स्थिति के सर्वथा अनुकूल और भागवतमय के प्रचार के लिये सर्वथा उपयोगी है। मदनो ने उस समय मानना ही ऐसा दबोच लिया था कि किसी से कुछ करने नहीं बनता था। गायन का विनूति भी ऐसी जगी थी कि उसके सामने कोई कमी का कुछ समझना ही नहीं था। कबीर आदि मनमोहन मन्तो ने एक ऐसी लोह निकाल ली थी जो मन-माना बातों के आचार पर अनुगुण की ऐसी भित्ति खड़ा कर रहा थी जिसकी आँट में सभा कुछ कहा जा सकता था किन्तु जिसका सच्चा रूप कभी जनता के सामने नहीं आ पाता था। सूरदास में ऐसा हृदय की हानि नहीं देखी गई। और फलतः उन्होंने गोपियों के हाथ इसको उल्लास फेरने का प्रयत्न किया। 'भ्रमर-गीत' में यह प्रयत्न प्रत्यक्ष होकर बोल पड़ा है और उनका मृदुल बाण। मुखर हो उठी है। सूरदास के सदब 'निठुर-जोग-जग' है। उनके कृष्ण मधुपुरी में बैठ कर जलने और अपने सत्वा रस के सम्मुख में सोचने हैं—

मधुपति जानि उदय रीति ।

विरह भगद निज सत्ता कहियन करत भाव अनीति ॥

विरह हुआ जहाँ नाहि जागत नहीं उपजे प्रेम ।

देख रूप बरन जाके वही बरयो वहि नैम ॥

त्रिगुण तन करि क्लृप्ति हमको ब्रह्म मानत और ।
 विना गुण क्यों पुहुमि उचरै यह करत मन खोर ॥
 बिरह रस के मन्त्र कहिये क्यों चलै संसार ।
 कछु कहत यह एक प्रगटत अति भयो बहकार ॥
 प्रेम भजन न नेकु याके जाह क्यों समुझाय ।
 सूर प्रभु मन रहै आनि ब्रजहि देउं पठाय ॥

—सूरसागर, पृ० ६३९-९ ।

हटना ही नहीं, कुछ और भी, और मामिक वेदना के साथ । कहते हैं—

यह अर्द्धतदरसी रंग ।

सदा मिल एक साथ बैठत चनन बोलन सग ॥

बात कहत न बनत यानों निटुर यागी जग ।

प्रेम मुनि विपरीत भाषत होत है रस भग ॥

सदा ब्रज को ध्यान मेरे गम-रग तरंग ।

सूर वह रस कहीं कैसी मिल्यो सखा मुरग ॥

—सूरसागर, पृ० ६३९-१० ।

अन्त में उपाय यह सूझता है कि इसको ब्रज में भेज दिया जाय और यह जाकर गोपियों से मधु-गम मीच आये । किमा जानी से तो यह ठीक हो नहीं सकता । फिर क्या था ? तुरत कहा—

ऊधो, तुम बेग ही ब्रज जाहु ।

सुरति सदेश सुनाई मेटा बरकभन को दाहु ॥

काम पवक तुलित मन में बिरह श्वास समीर ।

भस्म नाहिन होत पावत छांचनन के नार ॥

औंठुनों हहि भीति है बा कछुक श्वास समीर ।

एते पर बिना समाधाई क्यों चरै तिय खोर ॥

बार बार कहा कहीं तुमसो सखा साधु प्रवीन ।

सूर सुमति बिचारिये जिहि जिये जळ बिनु मीन ॥

—सूरसागर, पृ० ६४१, २० ।

उद्धव अपनी योग माया में इतने भग्न थे कि कृष्ण की मर्ममेदी बाणा को समझ न सके । न तो उन्होंने 'सुमति-सन्देश' को समझा और न 'जिये जळ बिनु मीन' को ही । झट समाधान क्या, प्ररोधन के निमित्त खज पड़े ।

कृष्ण ने अपने पत्र में किसको क्या लिखा इसको लेकर स्या कीजियेगा पर इतना तो जान ही लीं जिये कि उनकी कुन्जा का कहना है—

उधो ब्रजहि जाहु पाळगौ ।

यह पाता राधा कर दासो यह मैं तुममा भांगी ॥

गारी देहि प्रात ठाँठ माँको मुनन रहन यह बानी ।

राजा भये जाह नदनदन मिला कूबरा रानी ॥

मोपारस पाळत काह को बरज दयाम नहीं राख्यो ।

लारकाह ते बाँधन यगुमति कहा जु माखन खाक्यो ॥

रजु ले सबे हुजूर होत तुम माँहन सुधा यममान ।

सूरदयाम बहुना ब्रज जेहे एसे भये भजान ॥

सूरसागर, पृ० ६४३-३६ ।

दयाना ही नहीं, कुन्जा और भा भागे बढ़ती और किस कर कहती है—

सुनियत उधो लिये सदैमा तुम गाकुल को जान ।

पाछ करि गोपिन सो कहियो एक हमारा बात ॥

मात पिता को नेह समुँस के दयाम मधुपुग आर ।

ना इन काहु तुम्हार प्रतम ना यगुमान के जाए ॥

देखो बूँस भावने जय में तुम माँखो कीन मुख दाने ।

ए बाळक तुम मत्तवाळना सबे मुहकहि काने ॥

तनक दही माखन के कारण यशुदा पास दिखाये ।

तुम हंसि सब बाँधन को दीरा काहु दया न भवें ॥

आ कृपम नु सुना उन क नीसा सब तुम जय जानो ।

ताही लाजत ओ ब्रज-मोहन अब काहे दुख मानो ॥

सूरदास प्रभु सुनि सुनि बातें रहे श्याम सर नाये ।

—सूरसागर, पृ० ६४३-३९ ।

कृष्ण की इस दक्षिण लीला को यही छोरिये और देखिये यह कि—

आज कोउ नकी बात मुनावे ।

कै मधुवन ते नन्द लाहिले कै वपूत कोउ पावै ॥

भौरा हक चढ़ैदिग ते उड़ि उड़ि कान लागि कछु गावै ।

सत्तम भया ऊचे चढ़ि चढ़ि अग अग सगुनावै ॥

सूरदास कोउ ब्रज ऐसो जो ब्रजनाथ मिलवै ।

—सूरसागर, पृ० ६४४, ४७ ।

सगुन तो अच्छा हुआ पर दर्शन हुआ यग का । यह योग सगुण संयोग नहीं, यह तो निर्गुण का 'योग' है । उद्धव देखने में कृष्ण के अनुरूप ही थे, किन्तु उनका पक्ष था उनके सर्वथा प्राक्कूल । निदान गोपियों को विवश हो कहना पड़ा—

आये नदनदन के मेव ।

गोकुल मोंछ योग विस्तारयो मली तुम्हारी जेव ॥

जब बृन्दावन रास रच्यो हरि तबहि कहाँ तुम देव ।

अब यह ज्ञान मिलावन आये भस्म अघारो सेव ॥

अवकन को लै सो बूत ठ्यो जो योगिन को योग ।

सूरदास ए सुनति न जीबहि अतुर बिरह बियोग ॥

—सूरसागर, पृ० ६५०, ८३ ।

बात आन की आ पड़ी थी । सूरदास को दोनों रूपों में इठयोग को उल्लासना था । साधना के रूप में भी और सिद्धांत के रूप में भी । साथ ही इठयोगी की निन्हा करतूत को भी अछूती नहीं छोड़ना था । अतएव—

बहि अंतर मधुकर हक आयो ।

निज स्वभाव निकर होई, सुन्दर शब्द मुनावो ॥

पूछन लगी ताहि गोपिका कुबिजा तोहि पठायो ।

किषो सूर क्याम मुदर को हमें सँदेशो क्यायो ॥

—सूरसागर, पृ० ६५०-८४ ।

मधुकर का आना था कि गोपियाँ उस पर बरस पड़ीं । यह सन्देश का मधुकर जो था, शकुन का नहीं । फलतः इसकी पूजा भी पक्की हुई । गोपियाँ ने छूटने ही उससे पूछा ।

मधुकर कहा यहाँ नगुण गावै ।

ऐ प्रिय कथा नगर वासिन सो कहहि जहाँ कहु पावहि ॥

जिन परिसरि अब चरन हमारे विरह तार उपजावहि ।

सुन्दर मधु आनन अनुगामी नैनन आनि मिनावै ॥

जननि मम नन्दनन्दन को और प्रसंग चलावहि ।

हम नाहिन् कमलासी भोगी कार चानुरी मनावहि ॥

अनि बिचित्र लरिका की नाई गुरु दिव्याह जोरावई ।

उयो अलि किनव सुमन रम छै तजि जाय बहुरि नहि आवै ॥

नागर रति पति सुरदास मनु कहि विधि आन मिनावहि ॥

—सूरसागर, पृ०-६५०-८२

और—

मधुकर, हमहाँ क्यों समझावत ।

बारम्बार गीत ज्ञान व्रज अबज्जन आगे गावन ॥

नन्दनन्दन बिनु कपट कथा ऐ कति कहि कचि उपजावन ।

एक चन्दन जो अंग मुखा रत कहि कैसे मुख पावन ॥

देखि बिचार तहीं व्रज अपने नागर हो मुकदावन ।

सब सुमनन पर फिरत निरख करि काहे कमल वैवावन ।

खरण कमल कर नवन कमलकर फिरत निरख करि काहे कमल वैवावन ।

सुरदास मनु अलि अनुगामी केहि बिधि हो बिध हो बहिरावै ।

—सूरसागर, पृ० ६५०-८९

हतना होने पर भी मधुकर के प्रति गोपियों का भाव जो कुछ बना रह जाता है उसका कारण है उसके रंग में श्याम के रंग का वास होना । कहती हैं—

मधुकर कहीं पदा यह रीति ।
 लोक वेद भुति पन्थ रहित सब कथा कहति बिपरीति ॥
 जन्मभूमि वृज सखी राधिका केहि अपराध तजी ।
 अति कुलीन गुणरूप अमिन मुख दामी आह भजी ॥
 योग समाधि वेद गुण मार्ग क्यों समुझै जु गँवारि ।
 जो पै गुण अतीत व्यापक है तोहि कहीं है प्यारि ॥
 रहि अलि दंठ कपट स्वारथ हित तजि बहुवचन विनेषि ।
 मन कम बचन बचति यहि नाते सुरश्याम तब देखि ॥

—सुरसागर, पृ० ६५१-१४

जन्मभूमि, वृज, सखी और राधिका के प्रति सुरदास के जो भाव हैं उनका भलीभाँति समझ लेने से सुरसागर का साग उस सहज ही प्राप्त हो जाता है । सबसे पहले जन्मभूमि को छाँजिये । सुरदास की दृष्टि में जन्म-भूमि का जो महत्त्व है वह बैकुण्ठ से भी बढ़कर है । उनके राम की दृष्टि में—

हमारे जन्मभूमि यह गाउँ ।
 सुनहु सखा सुभाव बिभीषन, अबनि अजोष्या नाउँ ।
 देखत नव-उपवन सरिता सर, परम मनोहर ठाउँ ॥
 अपनी प्रकृति किये बोलत हौं, सुरपुर मैं न रहाउँ ।
 झोंके बासी अबकोकत हौं, आनन्द उर न समाउँ ॥
 सुरदास जो बिधि न सँकोचे, तो बैकुण्ठ न जाउँ ।

—सुरसागर, पृ० ६०९

वृज, सखी और राधिका की कहानी तो उदय के मुँह से सुनी जावर्ग । अभी देखना यह है कि उदय का मूल सम्बन्ध या क्या और गोपियों ने उसे बहण किस रूप में किया । उदय का प्रवचन है—

सुनहु गोपी हरि को सन्देश ।
 करि समाधि अस्तर्गनि ध्यावहु यह उनको उपदेश ॥
 वै अविगत अविनाशी पूरण सब पट रहे समाह ।
 निर्गुण जान बिनु मुक्ति नहीं है वेद पुरावन गाह ॥
 सगुण रूप तजि निर्गुण ध्यावे हक चित हक मन काह ।
 यह उपाव करि विरह तरी तुम मिलै ब्रह्म तब आह ॥
 तुमह सन्देश सुनत माधो को गोपीजन बिलखानी ।
 सूर विरह की बीन चलखे बृषत मीन बिन पानी ॥

—सूरसागर, पृ० ६५०, ८८

गोरियो का पक्ष है—

हम अलि गोकुल नाथ अराध्यो ।
 मन बच कम हरि सो भरि पतिव्रत प्रेम-योग तप साध्यो ॥
 मान विना हित प्रान निगम पद्य तजि तुल्य सुल्य भ्रम नाख्यो ।
 मानापमान परम परितोषन मुख्यक धिति मन राख्यो ॥
 सकुनासन कुठ शील कार्य करि जगत बध करि बन्धन ।
 मोन उपवाद पवन आरोधन हित कर काम निकंदन ॥
 गुरुजन काम अग्नि चहुँ दिश नभ तरनि ताप बिनु पेखे ।
 पिबत धूम उपहाम जहाँ नई अपयत्न भवण व्यथेखे ॥
 सङ्ग समाज बिमारि बपु करी निरखि निमेष न जागत ।
 परम ज्योति प्रीति अंग माधुरी भरत हई निशि जागत ॥
 बिकुटी सग भ्रमग नगटक तेन तेन अनुगमे ।
 हैसनि प्रकाश सुमुख कुंडल मिळि चन्द्र कगाळनि लागे ॥
 मुरली अखर भवण धनि सो मुनि शब्द अनहद करि काने ।
 बरषत रस रुचि बचन मंग सुख पद आनन्द समाने ॥
 मन्त्र दिखो मन जात मजन कणि ज्ञान ध्यान हरि ही को ।

सूर कही गुह कौन करे अलि कौन सुनै मत फीकी ॥

—सूरसागर, पृ० ६५४-१४

उदव जिस योग का बीजा लाकर आये थे उसको सहज में ही छोड़ नहीं सकते थे । जैसे-तैसे गोपियों को योग का लुक-अंजन देकर जाना चाहते थे । उधर गोपियों को बहवास भाती नहीं थी । निदान स्वीकृत कर उन्हें कहना पड़ा—

ऊषी तुम हो निकट के वासी ।

यह निर्गुण ले ताँद सुनावहु जे मुषिया बसै कामी ॥

मुरली अछर सकल अग सुन्दर रूप मिथु क' रामी ।

योग कटोरे किये फिरत हो व्रज बामिन की पाँवी ॥

राजकुमार भले हम जाने घरमें कस की दामी ।

सूरदास यदुकुलहि लज्जावन वन में होत है दामी ॥

—सूरसागर, पृ० ६६३-८

‘जे मुषिया बसै कामी’ का सकेत केवल हमी काशी से नहीं है, अरिउ सहस्रार की हठयोगी काशी से भी है । गोपियों ने नाना रूपों में नाना प्रकार से उदव के योग का लपटन किया है और सभा प्रकार से यह दिखा दिया है कि निर्गुण चाहे जिस किसी के लिए हो पर गोपियों के लिए तो वह नहीं है । कभी उदव की सतिवना के लिए इतना भी कह आती हैं कि भारका बात गल के नाचे तो नहीं ठहरती तो भी आपकी शांत के लिए उसको मान लिया जाता किन्तु अबचन यह आ पड़ी है कि इन्द्रियों साथ नहीं देती । अन्ध कर चाहती है, और कान बाणी । और मन तो कृष्ण रंग में इतना डूब चुका है कि उस पर कोई दूसरा रंग चढ़ता ही नहीं । जो हो सो हो, पर यह हो नहीं सकता कि गोविदा के मन में किसी निर्गुण का वास हो । उनका अचल विरवास और निरलस भाव तो वह है—

ए अलि जन्म-हर्म गुण गाये ।

हम अनुपामी वशुमत सुन का नरक क्या बहाये ॥

कैसे कर गोवर्धन चारयो कैसे केशी मान्यो ।
 काळी दमन कियो कैसे भद्र बकको बदन बिशयो ॥
 कैसे नन्द महोत्सव कानो कैसे गोपी धार्यो ।
 पट भूषण नाना भौतिन के वन युवतिन पहिरायो ॥
 दधि माखन के भाजन कैसे गोप सखा लै धार्यो ।
 बनको धातु बिज्र अग कीनो नाचत मेघ मुहार्यो ॥
 तबने कछु न मुहार्यो कान्हू बिनु युग सम बानत याम ।
 सूर मरिहो विरह बियोगिन राट-राटि मान्यो नाम ।

— रसागर, पृ० ६८८-४९.

और सन्देश यह—

ऊँची हम दोड़ काँठन परी ।
 जो जाँचें तो मुनि जब ज्ञानी तनु तजि रूप हरी ॥
 गुण गावैं तो शुद्ध मनकादिक धाय कोटा करी ।
 आशा अबधि विचार्यो रहै तो धर्म न वन सुन्दरी ॥
 सखा मयदानी सब जा मयाना विरहा प्रेम भरी ।
 शोक समुद्र तारवैं को नीका जे मुख मुरली धरी ॥
 निशि कर सूर निर अकुश आन बस माता मदन करी ।
 दाहत धाम सूर प्रभु चितवन गमन कर कमरी ॥

—सूरसागर, पृ० ६९८ २८

परिणाम यह हुआ कि उदय कृष्ण के रंग में रंग गये और योग का ठाढ़
 नुक कर कृष्ण के हो रहे । किन्तु उनकी दया देखने के पहले माधव से उनका
 कथन सुन लीजिये ।

मायो जू मुनिये वन दशोहार ।
 मेरो बहो पवन को मुन भयो गावत नन्दकुमार ॥
 एक ग्वालि मोसुत हूँ री गति एक लकुट कर केति ।
 एक ग्वालि नटकत बहु कीका एक कर्म गुण गावति ॥

अब मन भयो भीम के हाथी सुपने अगम अपार ॥
 सिन्धु कूज इक नगर बतावत ताहि द्वारका नाउँ ।
 यह तनु सौं पि सूर के प्रभु को और जन्म धरि जाऊँ ॥

—सूरसागर, पृ० ७५१-८४ ।

भावना तो अच्छी है पर इसमें भी संयोग होता नहीं दिखाई देता कारण—
 हौं कैसे के दरसन पाऊँ ।

सुनहु पथिक वह देष्ट द्वारिका जो तुम्हरे संग आऊँ ॥
 बाहिर भीर बहुत नूपन की वृक्षत वदन दुराऊँ ।
 भीतर भीर योग भामिनि की तेहि ठौं कौन पठाऊँ ॥
 बुधि बल युक्त अतन करि बहि पुर हरि पिय पै पहुँचाऊँ ।
 अब बन बसी निकुञ्ज रासक भिन कौनहि दशा सुनाऊँ ॥
 अमर्क सूर जाऊ प्रभु पास ह मन में भले मनाऊँ ।
 नरकधोर मुख मुरली बिना इन नैनन कहाँ देखीऊँ ॥

—सूरसागर, पृ० ७५१-८५ ।

आन देने की बात है कि मथुरा की गली गली में दर्शन देनेवाली गोपियाँ
 कृष्ण के बिगड़ में तब पती और उनके दुःख की चिन्ता करता है, पर कभी स्वप्न
 में भी हा हा स्वाकर न तो उनका दर्शन करने जाती है और न भावभरे हाथ से
 किसी के द्वारा मायन ही होती है । उदय के आने पर किसी प्रकार अपना वेश
 भी नहीं बदलना चाहती । किन्तु प्रेम वह पदार्थ है जो किसी आन को नहीं सह
 सकता । अस्तु कहती है—

जो पै ले जाय कोऊ मोहि द्वारिका देश ।
 सग ताके चको सजनी जटाहु करि कैश ॥
 बोकि चौं हरबाह पूछहु आपने सदेस ।
 जैसेही जो कहै कोऊ बने तैसे मेम ॥
 बरहि हम बूझनाथ मुबता बूझनाथ नरेस ।

तद्विशिष्टशुद्धिमुदनी सूरजराजी प्रीतिपरेस ॥

—सूरसागर, पृ० ७५२-८९।

उपर भी ऐसी ही लगन लगी है। कृष्ण किस वेदना के साथ रुक्मिणी से कहते हैं।

रुक्मिणी! खलहु जनमन्मि जाही।

यदापि तुम्हारी इतो द्वारका मथुरा के समनाही ॥

यमुनाके तट गाय चरावन अमृत जल भचवाही।

कुजकेल अरु भुजा बध धरि शांतल द्रुमकी छाही ॥

सरस सुगन्ध मन्द मलया गिरि बिहरत कुजन माही।

जो कावा श्री वृन्दावन में तिहूकोक में नाही ॥

सुरभा खाव नन्द अरु यमुनातमम विसर्त न टगाही।

सूरदाम प्रभु चतुर शिरोमण सेवा तिनका कराही ॥

—सूरसागर, पृ० ७५४-४८।

और हथर की दशा यह है—

बायम गहगहान मुन वणी स्वमल पूव दिसि गोला।

आहु भिलाषो दयाम मनोहर तू मुन सखी राधके मोली ॥

कुच भुज अधर नयन करकत हैं बिनहि बात अखल ध्वज होली।

सोच विचार करो मन आनन्द मानो मध्य दशा बिचिखोली ॥

सुनत मुखचन सखीके मुखते पुलकित प्रेम तरकि, गई खोली।

सूरदास अभिजाय नन्दमुन हरषी मुमग नाहि मनमोली ॥

—सूरसागर, पृ० ७५४-६।

यह शकुन निष्कल न गया। कुरुक्षेत्र से कृष्ण का दूत आया और—

नन्द यशोदा सब बृजवासी।

अपने अपने सङ्गत साथ के मिलन लखे अविनासी।

कोउ गावत कोउ बेणु बजावत कोउ उतावत धावत।

हरि हरान काक्यस कारन विविध मुखित सब आवत ॥

अब मन मयो भीम के हाथी सुपने भगम अपार ॥
 सिन्धु कूज इक नगर बतावत ताहि द्वारका नाउँ ।
 यह तनु सौं पि सूर के प्रभु को और जन्म धरि जाऊँ ॥

—सूरसागर, पृ० ७५१-८४ ।

भावना तो अच्छी है पर इससे भी संयोग होता नहीं दिखाई देता कारण—
 हौं कैसे के दरसन पाऊँ ।

सुनहु पथिक यह देण द्वारिका जो तुम्हरे संग आऊँ ॥
 बाहिर भीर बहुत भूपन की ब्रूत वदन दुगाऊँ ।
 भीतर भीर योग भामिनि की तेहि ठौं कीन पठाऊँ ॥
 बुधि बल युक्ति अतन करि बहि पुर हरि पिय पै पढ़ुं चाऊँ ।
 अब बन बसी निकुंज रसिक भिन कीनहि दशा सुनाऊँ ॥
 अमकें सूर जाऊ प्रभु पास इ मन में भले मनाऊँ ।
 नवां कशोर मुख मुग्धा बिना इन नैनन कहाँ देखीऊँ ॥

—सूरसागर, पृ० ७५१-८५ ।

ध्यान देने की बात है कि मथुरा की गली गली में दही बेचनेवाली गोपियाँ
 कृष्ण के विरह में तड़पती और उनके दुःख की चिन्ता करती हैं, पर कभी स्वप्न
 में भी हा हा लाकर न तो उनका दर्शन करने जाती हैं और न भावभरे हाथ से
 किसी के द्वारा माखन ही भोगती हैं । उदय के आने पर किसा प्रकार अपना वेप
 भी नहीं बदलना चाहती । किन्तु प्रेम वह पदार्थ है जो किसी आन को नहीं सह
 सकता । अस्तु कहती है—

जो देखे जाय कोऊ मोहि द्वारिका देश ।
 सग ताके खोजें सजनी छटाहु करि केश ॥
 बोकि धौं हरबाह पूछहु आपने संदेश ।
 जैसेही जो कहै कोऊ वने तैसे मेव ॥
 बरहि हम ब्रूनाथ मुबतः ब्रूनाथ नरेश ।

तद्विधाशकु मुदनी सूरज रची प्रीति परेस ॥

—सूरसागर, पृ० ७५२-८९।

उपर भी ऐसी ही लगन लगी है। कृष्ण किस वेदना के साथ रुक्मिणी से करते हैं।

रुक्मिणी' चलहु जनमन्मि जाही।

यदापि तुम्हारे हनो द्वारका मथुरा के समनाही ॥

यमुनाके नट गाय चरावन अमृत जल भववाही।

कुजकेलि कर भुजा यथ धरि शतल द्रुमकी छाही ॥

सरस सुगन्ध मन्द मन्थरा गिरि बिहरत कुजन माही ॥

जो क्रावा श्री वृन्दावन में तद्दूकोक में नाही ॥

सुरभी खाल नन्द कर यमुना तमम चितने न टगाही।

सूरदास प्रभु चतुर शिरोमाण सेवा तिनकी कराही ॥

—सूरसागर, पृ० ७५४-५।

और हथर की दशा यह है—

बाधम गहगहात सुभ वर्या स्वमल पूव दसि बोला।

आजु मिलाओ श्याम मन'हर तू मुन मन्वी राधके मोली ॥

कुच भुज अधर नयन परकत है बिनहि बात अत्यन्त खज होली।

सोच विचार करो मन आनन्द मानो मर्य दशा बिचित्रोली ॥

सुनत सुबचन मन्वीके मुखने पुलकित प्रेम तरकि, गई खोली।

सूरदास अधिकाय नन्दमुन हरपी सुभग नारि धनमोली ॥

—सूरसागर, पृ० ७५४-६।

यह शकुन निष्कल न गया। कुरुक्षेत्र से कृष्ण का दूत आया और—

नन्द यशोदा सब ब्रजवासी।

अपने अपने छकट साज के भिन्न खले अविनासी।

कोउ गावत कोउ बेणु बजावत कोउ उतावत भावत।

हरि हरशन काज्जल कारन बिबिध मुदित सब आवत ॥

हरशान कियो आइ हरिजी को कहत सपन की साँची ।
 प्रेम मानि कछु सुधि न रही अँगरहे श्याम रँग रौची ॥
 जासो जेसो भाँति चाहिये ताहि मिल्खो त्यो धाह ।
 देश देशके नृपति देखि यह प्राण रहे भरगाह ॥
 ठमँग्यो प्रेम समुद्र दशहूँ दिति परामित कही न जाह ।
 सुरदास इह सुख सो जानै जाके हृदय समाई ॥

—सुरसागर, पृ० ७५५-१२ ।

यह दक कुरुक्षेत्र में पहुँचा तो रुक्मिणी का प्रश्न हुआ—

ब्रूँसति हे रुक्मणा प्रिय इनमो को वृषभानु किशोरी ।
 नेक हमैं देखराबहु अपन बालापन की जोरी ॥
 परम चतुर जिन काने मोहन अल्प वैमही खोरी ।
 बारे ने जिहि यहै पदायो बुधि बळ कळ विधि चोरी ॥
 जाके गुण गनि गुणान माल कबहुँ उरने नहि छोरी ।
 सुमिरन सदा बसतही रसना दृष्टि न हन उत मोरी ॥
 कह देखो युवतवृंद में ठापी नाल बसन तनु मोरी ।
 सुरदास मेरी मन बाका चितवन देखि हरयाग ॥

—सुरसागर, पृ०-७५६-१६ ।

रुक्मिणी ने राधा को देखा तो उसका हृदय गद्गद हो उठा । कुन्धा और गोपियों का संचय यहाँ नहीं रहा । यहाँ तो—

रुक्मिणी राधा ऐसे बैठी ।
 जैसे बहुत दिनन की बिछुरी एक बार की बेटी ॥
 एक मुभाह एक छे दोऊ दोऊ हरि का प्यारा ।
 एक प्राण मन एक दुहुन को तनु कार देखियत न्यारी ॥
 निज मन्दिर ले गई रुक्मणा पहुँचाई निधि ठानी ।
 सुरदास प्रभु तहँ पग बारे जहाँ दोऊ ठकुरानी ॥

—सुरसागर, पृ० ७५६-२० ।

अर माधव !, उनकी कुछ न पूछिये—

राधा-माधव भेंट भई ।

राधा-माधव माधव राधा कीट भू ग गति होइ जो गई ॥

माधव राधा के संग राचे राधा माधव रग गई ।

माधो राधा प्रीति निरंतर रसना कहि न गई ॥

बिहसि कल्ला हम तुम नहिं अन्तर यह कहि ब्रज पठई ।

सूरदास प्रभु राधा माधव ब्रज बिहाग नित नई नई ॥

—सूरसागर, पृ० ७५६-२१ ।

हस मिठन का राधा पर क्या प्रभाव पड़ा इसे उन्ही के मुँह से सुनिये ।
अपनी प्यारी सखा से कहती है—

करत कटु नाही आज बनी ।

हरि आए हो रही ठगी सी जैसे चित्त बनी ॥

आसन हवि हृदय नहिं दीन्ही कमल कुटी अपनी ।

न्यबलावर पर अघ न अन्ध जगधार जो बनी ॥

कचुकीने कुच कुल प्रगट हो टूटि न तरक तनी ।

अब उपजी अति छाज मनहि मन समुसत निज करनी ॥

मुख देखत न्यारेसी रहिहो बिनु बुधिमति मजनी ।

तदपि सूर मेरी यह कहना मगल भाँसि गनी ॥

—सूरसागर, पृ० ७५७-२१ ।

रहे सखा, उनसे कृष्ण का आश्वामन है—

सबहन ते सब है जन मेरो ।

जन्म जन्म मुन मुकम मुदामा निबन्धो यह प्रण मेरो ॥

ब्रह्मादि इन्द्रादि आदि दे जानन बलि बसि केरो ।

इक उपदाम आस उठि ब्रजने नजके अरनो खेरो ॥

कहा भवो जो देख हारका कोन्हो दूरि बसेरो ।

आपुनही वा ब्रजके कारण कहिहो किरि किर केरो ॥

यहाँ यहाँ हम फिरत साधहित करते असाध अहेरो ।

सूर हृदयते टरत न गोकुल अग छुमत हों तेरो ॥

सूरसागर, पृ० ७५७-२४ ।

सूरदास ने राधा-माधव, रुक्मिणी-राधा और कृष्ण गोप प्रसंग को जिस रूप में उठाया, जिस ढंग से निभाया और जिस ढंग में उसे गाड़वन बनाया इसको आज भी सम्यक् रूप से 'सूरसागर' में देखा जा सकता है । सूर की साधना सूर की भक्ति, सूर की कला और सूर के सिद्धान्त का यह चरम उत्कर्ष है । 'अग छुमत हों तेरो ।' में जो बात कही गई है वह हृदय की भी है और हाथ की भी । 'यहाँ यहाँ हम फिरत साधुहित करत असाध अहेरो' में सारी अवधार-लीला बोल उठी है । तो भी विनारणाय बात तो यह है 'क यह मिलन न तो ब्रज में होता है और न मथुरा में ही और होता भी है तो उस कुक्षेत्र में जहाँ कृष्ण की घोर संहार-लीला हुई थी और जहाँ हुंभा या गीता का उपदेश । कहने है कुक्षेत्र के कृष्ण ब्रज के कृष्ण से सर्वथा विपरीत हैं । सूरदास कहते हैं—रापुरे ने समझा ही नहीं, यहाँ भी वही समझारा बड़ा है जो ब्रज में । कृष्ण ने वहाँ भी तो यही घोषणा रणभूमि में की थी—

हम भक्तन के भक्त हमारे ।

मुनि भर्जुन परतिज्ञा मेरी, यह जन टरत न टारे ॥

भक्तनि काज लाज जिय धार क, पाह पयादे धाऊँ ।

जई जई नीर परे भक्तनि की, नई नई जाह छुवाऊँ ॥

जो भक्तन सौ बेर करत, सो बेरा निज मेरो ।

दोख बिचार भक्त हित कारन, हाँकत हों रय तेरो ॥

जाते जीति भक्त अपने के, हारे हारिबिचारों ।

सूरदास मुनि भक्त विरोधी, एक सुदरसन जागौ ॥

—सभा स०—२७२

कृष्ण कुक्षेत्र में दख नहीं गहते परम्यु साध देते हैं अपने भक्त का ही और बीला में भी वही उपदेश देते हैं कि सब कुछ छोड़कर मेरी धारण में आओ ।

मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा । कृष्ण की यह प्रकट-लीला है । यहाँ कोई गुप्त लीला नहीं । ब्रज में प्रकट-लीला भी है और गुप्त-लीला भी । प्रकट-लीला अनित्य और गुप्त लीला नित्य है । प्रकट रूप में कृष्ण का फेरा कब होगा यह हम नहीं कहते किन्तु गुप्त रूप में यह लीला ब्रज में सदा होती रहती है इसमें किसी भक्त का कोई सन्देह नहीं ।

राधा-कृष्ण के प्रसंग में भूजना न होगा कि सूरदास ने भाँति भाँति से उनका सम्भोग कराया है और भाँति भाँति की विविध लीलाओं का विशद वर्णन भी किया है । अध्ययन की दृष्टि से टॉकने की बात यह है कि सूरदास ने राधिका के मान का जो वर्णन किया है और इसी को जिस रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है वह 'गीत-गोविन्द' के मेकमें है । प्रतीत तो ऐसा होता है कि सूर ने राधा-माधव और सखी की योजना ठीक उसी ढंग पर की है जैसी जयदेव ने गीत-गोविन्द में की है । सूरदास के जो पद दिये गये हैं उनमें कहीं न कहीं एक विशिष्ट सखी का उल्लेख भी हुआ है और सर ने जैसे अपनी छाप के साथ जहाँ तहाँ श्याम को जोड़ दिया है वैसे ही जहाँ तहाँ सखी को भी । उनका एक पद है—

चल राधे बोलत नन्द किशोर ।

कलिन त्रिभग श्याम सुन्दर बन नाचन क्यो मन मोर ॥

छिन ! छिन बिरस करनि है सुन्दरि क्यो बहरन मन मोर ।

भानन्द कन्द चन्द कृन्दावन तू करि नैन खकोर ॥

कहा कहीं माँहमा तुम भाग की पुण्य गनन नहिँ और ।

सूर सखी विषये चकि नागरि ले मिळि प्राण अकार ॥

—सूरसागर, पृ० ५११, १४ ।

एक दूसरा पद भी इस सखी की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये ले लीजिये ।
कहते हैं—

मानिनि मानत क्यो न कछो ।

प्रथम श्याम मन खोरि नाकरी अब क्यो मान गछो ॥

जानति कहा रीति प्रीतम का बन जम जोग मझो ।
 रुद्र वीर रवि शेष सहस मुख तिनहुँ न अन्न छझो ॥
 * बैठे नवक निकुंज मंदिर में सो रस जात बझो ।
 सूरज सखि मोहन मुख निरलहु घोरज नाहि रझो ॥

—सूरसागर, पृ० ५१७-५६ ।

इसमें कृष्ण के जिस स्वरूप का उल्लेख है, जिस रस का चर्चा है और सूरज के साथ जो 'सखि' प्रयुक्त है उससे जहाँ कृष्ण के परम रूप और परम रस का व्यञ्जना होती है वही 'सूरज' के 'सखी' भाव का भी । गुप्त रस-लीला में सूर सखी तो हैं ही मधुर-रस की इस प्रकट लीला में भी उनका उसी प्रकार सखी समझ लेना चाहिये जिस प्रकार बाल-लीला के प्रसंग में दादी समझ लिया गया था । अपना अनुमान तो ऐसा है कि सूर का मूल नाम ही सूरज था । यथार्थ जैसा हो ।

साधना के क्षेत्र में सूरदास रसदादी सखी-भाव के जीव हैं किन्तु उपासना के क्षेत्र में सेवा के रूप में बाल-कृष्ण के भक्त । बालविनोद में उनकी जो वृत्ति रही है उसको सभी भरपूर जानते हैं । किन्तु जिस तथ्य को प्रकट करने का प्रयत्न नहीं किया जाता वह यह है कि सूरदास ने इस बाल-रूप को किस दृष्टि से लिया है । सूरदास का स्वयं कहना है ।

हमें नन्दनन्दन माळ लिये ।

जमके फन्द काटि मुकराए, अमव अजाद किये ॥

भाळ तिलक, सवननि तुळसी दल, मेटे अक लिये ।

मूँझी मूँड, कंठ बनमाळा, मुद्रा चकदिबे ॥

सब कोळ कहत गुणाम स्वाम की, सुनत सिरात दिबे ।

सूरदास को और वही सुल, जूझनि जाह लिये ॥

—सभा ४०-१७१ ।

सूरदास ने भोग्य पदार्थों का वर्णन वही ही भाव से किया है और वहाँ वहाँ सर्वाथ उनकी पूरी बाळ भी लगा दी है । ऐसे पदों के अन्त में उनकी दृष्टि जूझन पर ही रखी है और सब का भाव प्रायः वही होता है—

छवि सूरदास बबिहारी । मीनत कहु जूठनि पारी ।
हरि तनक तनक कहु लायो । जूठनि सब भक्तनि पारी ॥

—सभा सं०—८०१ ।

इसका मूल-कारण है वाक गोपाल की बह्मभ-सम्प्रदाय की विलुप्त सेवा ।
सूरदास ने उद्योनार की पूरी विधि बताकर घोषणा यह की है—

सूरदास देखयो गिरधारी । बोलि दई हैसि जूठन पारी ।
यह जेवनार सुनै ओ गावै । सो निज भक्ति अभयपद पावै ।

—सूरमांगर, पृ० ५३६, २१ ।

सूर की दृष्टि में कृष्ण की लीला का माहात्म्य क्या है और किम हेतु से कृष्ण
को अद्भुत लीला होती है उसको ठीक ठीक जानने के लिये यह पद पर्याप्त है—

हरि की लीला देखि नारद चक्रि न भये ।
मन यह करत विचार गोमरी तर गये ॥
अकल्प निरजन निर्विकार अद्भुत अविनाशी ।
मेवत जाह मदेश दोष सूर माया दासी ॥
धर्म स्थापना हेतु पुनि धारया नर अवतार ।
ताको पुत्र कलत्र सो नहि संभवत विचार ॥
हरि के घोड़श सहस रहे पतिव्रता नारी ।
सब सो हरि को हेत सबे हरि जू को प्यारी ॥
जाके गृह दुह नारि होई ताहि ककह नित होइ ।
हरि बिहार केहि विधि करत नैनन देखी जाइ ॥
द्वारावर्ति ऋषि पेट भवन हरि जू के जाको ।
जागे होइ हरि नारि संहित चरणन शिर नाचो ॥
सिंहासन बैठारि कै प्रभु पाये वरण बनाइ ।
चरणोदक शिर परि कछा कुरा कगी झुपिगाइ ॥
सब नारद हैंसि कछो सुनो त्रिभुवनवर्ति राई ।

तुम देवन के देव देन हो मोहि बसाई ॥
 बिधि मरेश सेहत तुम्हें मैं बपुरा केहि माहिं ।
 कहत तुम्हें ब्रह्मण देवता या मैं अचरज नाहिं ॥
 और गेह ऋषि गये तहाँ देखे यदुराई ।
 चमर टोरावत नारि करत दासी सेवकाई ॥
 ऋषि को कले देखि हरि बहुरि कियो सम्मान ।
 उड़कते नारद चले करत ऐसो अनुमान ॥
 आ गृह में मैं जाऊँ इयाम आगे ही आवत ।
 ताते छाँड़ि सुभाउ जाऊँ अब कैसे पावत ॥
 जहाँ नारद भ्रम करि गये तहाँ देखे घनश्याम ।
 पावन हू कीड़ा करत कर जोरे लखी बाम ॥
 नारद जहाँ जहाँ जाइँ तहाँ तहाँ हरि को देखै ।
 कहुँ कछु लीला करत कहुँ कछु लीला देखै ॥
 वो ही सब गृह में गये भयो न मन विभ्राम ।
 तब ताको व्याकुल निरलि हैंति बोले घनश्याम ॥
 नारद मन की भर्म तोहि इतनो भरमायो ।
 मैं व्यापक सब जगत वेद चारो मुख गायो ॥
 मैं कर्ता मैं भोक्ता मोहि बिनु और न कोह ।
 जो मोको ऐसे लखै ताहि नहीं भ्रम होइ ॥
 वृत्तो सब घर जाह सबे जानत मोहि वो ही ।
 हरि की हम लो प्रीति अनत कहुँ जात न क्यों ही ॥
 मैं उदास सब सो रहौँ इह मम लक्षण सुभाइ ।
 ऐसो जाने मोहि जो मम माया न रखाइ ॥
 तब नारद कर जोरि कल्लो तुम अब अनन्त हरि ।
 तुम से तुम बिन क्लिप्त कोउ नाहिँ उत्तम कुरि ॥
 तुम माया तुम कुरा बिनु कहे नहीं तरि कोह ।

अब मोको क'जे कृपा ज्यो न बहुरि भ्रम होइ ॥
 ऋषि चरित्र मम देखि कछु भचरज मात मानो ।
 भोतै द्वितीया ओर कोऊ मनमाहि न भानो ॥
 मैं ही कर्ता मैं ही भोक्ता नहिं या मैं सन्देहु ।
 मेरे गुण गावत फिरौ जोगन को मुख देहु ॥
 नारद करि परिणाम लखे हरि के गुण गावत ।
 बार बार उर हेत ध्याइ हृदय में ध्यावत ॥
 इह लीळा करि भचरज की सूरदास कहि गाइ ।
 ताको जो गावै सुने सो भवजळ तरि जाइ ॥

—सूरसागर, पृ० ७४३, छ० ७१ ।

अस्तु, सूरदास के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि उन्होंने तुलसीदास की भाँति बार बार यह दिखाने का चेष्टा नहीं की है कि कृष्ण परब्रह्म हैं, कुछ सामान्य व्यक्ति नहीं, वह सर्वथा निर्मूल और अध्ययन में अति दूर है । सूरदास ने प्रकट और प्रच्छन्न उभय रूपों में सत्य समय पर इसका बोध कराया है कि कृष्ण सामान्य बालक नहीं, परब्रह्म है और भक्तों के मुख और दुष्टों के दमन के हनु ही सत्तार में आये हैं । बचरन की बात है । पाँच जी भोग लगाना चाहते हैं, परन्तु लगा नहीं पाते । यशोदा तावनी है तो कृष्ण इसका जो उत्तर देने हैं वह क्या है ? अच्छा तो कृष्ण के जन्म के उच्छाद में पाँच जी महाराज भोजन पर बैठे हैं, और हाता यह है—

पाँच नहि भोग लगावन पावै ।
 करि करि पाक जबै अर्पन है, तबही सब छुबै भावै ।
 हुन्हा करि मैं बाहन न्योत्वो, ताकोँ म्याम लिखावै ।
 वह अपने ठाकुरहिं बिबावै, तू ऐवै उठि जावै ।
 जननी दोष देनि कत मोकी, बहु बिधान करि खावै ।
 नैन मूँदि, कर बाँधि, नामलै बारहि बार बुलावै ।

कहि, अन्तर क्यों होइ भक्त सौं, जो मेरै मन भावे ।

सुरदास बलि बलि बिलाम पर, जन्म जन्म जप गावै ।

—सभा सं० ८६७ ।

कृष्ण के जितने सम्बन्धी हैं सभी उनको हमी रूप में जानते हैं और बाल लीला के साथ ही साथ यह अद्भुत लीला भी बराबर चलती रहती है इतना ही नहीं, सुरदास ने तो कहीं कहीं नयी प्रकार कृष्ण को परब्रह्म मित्र करने का प्रयत्न किया है जिस प्रकार कि आगे चलकर तुलसीदास ने किया है। यह बात 'सुर-सागर' में इतनी स्पष्ट है कि हमें इसके सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना व्यर्थ है। जम-नार्जुन के मोक्ष का प्रसंग है। सुरदास लिखते हैं—

ऐसे हरि जन के मुख कारी, परगट रूप चतुर्भुज धारी ।

सुरदास ने इस चतुर्भुज रूप का भी बराबर ध्यान रखा है और अन्त में जब कृष्ण द्वारिका में जा बसते हैं तब हमी चतुर्भुज को लक्ष्य करके गोपां कहती हैं—

हौं तो आह भिन्नत गोपाळहि ।

सिन्धु घग्नि यह जगुन न तेरी दुख दीनो वज्र बालहि ।

कहा करो पट नील पीत वर दुरते मये भुज चारि ।

बहु सुख कहा जु तब मन होनो भेटत श्याम मुगारि ।

सतत सुर रहन पति सगम सब जानति रवि जी की ।

तू क्यों नहिं धरति या मेष'ह जोवै मुक्त अति नीकी ।

—सुरसागर, पृ० ७५३-९६ ।

कहने का तात्पर्य यह कि सुर और तुलसी में माया का भेद पक्क सक्ता है, कुछ ब्रह्मरूप में नहीं। सुरदास के मगुण और निर्गुण के विषय में कुछ और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। हाँ, कृष्ण की कमरी के बारे में भी कुछ कता देना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि—

शिव खिरंछि सनकादि आदि तिनहुँ नहि जानी ।
 जेष सहस फन यक्षो निगम कीरति न बखानी ।
 नेरी सो मुनि ग्वालनी इहै मेरे मन मोह ।
 भुवन चतुर्दश देखिए वा कामार की छाँह ।
 जेष न पायो अन्न पुहुमि जाकी फनवारी ।
 पवन बुझारत द्वार सदा शकर कुतवारी ।
 धर्मराज जाकी पवारि सनकादिक प्रतिहार ।
 जेष छ्यानवै कोटि भव जळ दोवहि प्रतिवार ।
 कहत ब्रजनागरी ।

—सूरसागर, पृ० ३२१-२८ ।

इतने बड़े बड़े देवता नहीं जानते तो न जानें पर वस्तुतः इसी कमरी के बल पर कृष्ण करने सब कुछ हैं । देखिये—

यह कमरी कमरी कर जानन ।
 जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति ॥
 या कमरी के एक रोम पर वारीं जग नील पाटवर ।
 सो कमरी तम निंदति गोपी जो तीन लोक आहम्बर ॥
 कमरी के बल असुर सहारे कमरिहिते सब भोग ।
 जाति पौनि कमरी सब मेरी मूर सबहि यह योग ॥

—सूरसागर, पृ० ३०६-९६ ।

निश्चय ही यह और कुछ नहीं, कृष्ण की योगमाया है जिसके प्रसार में सब कुछ होता है । इस प्रसंग के छोबने के पछे यह भी जता देना उचित प्रतीत होता है कि कृष्ण के हृदय की उस भावना को भी हम अपने हृदय में बसा के जिससे कृष्ण करते तो सभी कुछ अपने आप ही हैं पर महत्त्व सभी को देते हैं । कभी उसमें अभिमान का जेश भी नहीं होता । उनसे जब कभी कोई पूछता है कि यह बड़ा कार्य कैसे हो गया तब सहज भाव में यही उत्तर देते हैं कि यह तो वो ही

हो गया । सभी सत्वाओं की इसमें सहायता मिली अथवा जैसे तैसे बन गया । इसमें कहीं तो दुराव है और कहीं भक्तों और साधियों को महत्त्व देना । सूरदास इसके द्वारा कृष्ण के सहज शील को व्यक्त करना चाहते हैं और इसमें सफल भी पूरे हुए हैं । यहाँ तक कि उनके बिरह को भी सूरदास ने बहुत ही सरस रूप दिया है और उनके बिलगाने को भी दिखा दिया है । राधा कृष्ण पर मरती है तो कृष्ण का हृदय भी राधा के लिए तड़पता रहता है । यह बात दूसरी है कि पुरुष होने के कारण उतना बिलग नहीं करते ।

सूरदास ने कृष्ण की ब्रज-लीला को दो रूपों में किया है । एक तो सहज बिलास के रूप में और दूसरा शत्रु-संहार के रूप में । फलतः सूर को प्रकृति को दोनों रूपों में केना पड़ा है । ब्रज की प्रकृति मधुर, कोमल और उदात्त है । उधर जो अमुर आते हैं प्रकृति के त्रेप में आते हैं । स्वभावतः उनका रूप उग्र होता है । सूरदास ने इस उग्रता को भी सफलता के साथ टाँका है ।

सूरदास ने प्रातःकाल का वर्णन बहुत किया है । सब से पहले तो कृष्ण को जगाने समय उनको यह बताना पड़ता है कि प्रातःकाल हो गया । और इसी प्रसंग में प्रातःकाल का पूरा परिचय दे दिया जाता है । दूसरा प्रसंग रत्नजग का है । उसमें भी रात भर बिलास करने के उपरान्त प्रातःकाल की खिन्ता होती है । दोनों अवसरों पर प्रातःकाल का बहुत अच्छा चित्रण हुआ है । सीधा भाषा में सवे टग से प्रातःकाल का जो दृश्य उपस्थित हुआ है वह यह है—

जागिये ब्रज राज कुँभर कमल कुमुम फूले ।
कुमुम-वृक्ष सकुञ्चित भए, भृंग कता भूले ।
तमचुर लगरोर सुनहु, बोलत बनराई ।
रौपति गो करिकनि मैं, बछरा हित पाई ।
विधु मकीन रवि प्रकास गावत नर नारी ।
सूर स्वाम प्रात उठौ, अम्बुज कर चारी ।

इसी को उत्प्रेक्षा की छटा में ज्ञान की दृष्टि से देखना हो तो—

जागिये गोपाळ लाख, आनंद निधि नन्द बाळ,

जसुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे ।

—सभा स० ८३० ।

को देखना चाहिये । कृष्ण की अवस्था ओं ओं बढ़ती जाती है त्यों त्यों प्रातःकाल के वर्णन में गभीरता भी आती जाती है और कार्य में निरत होने की बात भी सामने आती जाती है ।

जागिये गोपाळ लाख ग्वाल द्वार ठाढ़े ।

रेनि अन्धकार गयो, चन्द्रमा मलीन भयो,

तारा गण देखियत नहि तरणि किरन बाढ़े ।

मुकुलित भये कमल जाल गुंज करत भुंगमाळ

प्रफुलित बन पुट्टप द्वार कुमुदिनी कुम्हानी ।

गधर्व गुण गान करत स्नान दान नेम धरत

हरन सकल पाप बदन विप्र वेद चानी ॥

बोलन नन्द बार बार मुख देखे तुव

कुमार गहन भइ बहो बार बूँदावन जेबे ।

जननी कहै उठो इयाम जानन जिय रजनि ताम

सूरदास प्रभु कुरानु तुमको कहु ल्येबे ॥

—सूरसागर पृ० ४३४ २० ।

यही वेला दूसरे समाज में यह रूप धारण कर लेती है—

शर्वरी सर्व बिहानी, नोहि मनावत राधा रानी ।

छुक उदय होन लम्बा जागे नमबुध ठरि आई बु मृगानी ।

प्रफुलित कमल गुबार करत अकि पट्टाटी कुमुदिनी कुम्हानी ।

सूर इयामवन मुखि परे ई मान निवारो मो पै क्यो लहरानी ।

—सूरसागर, पृ० ५१६-४८ ।

इसमें 'शुक' के उदय और 'मृगानी' के ढलने की जो बात कही गई है वह शरद ऋतु के सर्वथा अनुरूप है और सुरदास की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देती है। सुर ने इस प्रकार प्रकृति का जहाँ-तहाँ वर्णन किया है। वैसे तो षड्ऋतुओं का नाम प्रसंगवश कहीं न कहीं आ ही गया है परन्तु सुरदास ने खुलकर अकन किया है वसन्त, वर्षा और शरद का ही। शरद का वर्णन रास-रस की दृष्टि से हुआ है और वसन्त का होली-धमार के प्रसंग में। एक में गुप्त रमने की बिध बनी है तो दूसरे में खुल खेलने की। वर्षा की बात कुछ निराली है। वर्षा-ऋतु बार बार आती रहती है। वर्षा में जहाँ आनन्द की व्यञ्जना हुई है वह थोड़ी है। वियोग-वेदना और भय की व्यञ्जना ही इसमें अधिक हुई है। 'निसँदन बरसत नैन हमारे' में जिम वर्षा का उल्लेख हुआ है सो तो थोड़ी, कामदेव की चढ़ाई और इन्द्रका प्रभोप भी बादलों के द्वारा ही होता है—

माई री ये मेघ गाजै ।

मानहुँ काम कोपि चढ़ो कोलाहल कटक कटो ,

बरहा पिक खानक जै जै निसान बाजै ।

बरन बरन बादर बनाए तब जगत बिराजै ॥

दामिनी करवार करनि कपन सब गात उरनि ,

जल धर समेत सेत इन्द्र धनुष साजै ॥

ऐमे अघिलाषा धीर बिगत बिरनने न लाजै ।

अबलनि अकेली करी अपनी कुल नीति बिमरि ,

अबध सग सुर भइगइ भाजै ।

—सुरसागर, ६२७-२६ ।

इसके आगे जो पद आये हैं उनपर विचार करने से आपही लुभ जाता है कि सुरदास प्रकृति को किस लुकी-छुपी से देखते हैं और किस प्रकार उसे अंकित करने में कथं भी होते हैं। और साथ ही इन्द्र के कोप को भी देख लेना चाहिये—

बादर घुमहि उमहि आये ब्रज पर
 बरसत कारे घुमरे घटा अति ही जल ।
 अति खमचमाति ब्रजजन सब डर डारन
 टेरेत शिशु पिता मात ब्रज गलबल ॥
 गर्जत ध्वनि प्रलयकाल गोकुल भयो अन्धकार ।
 चकृत भए ग्वाल बाक घहरत नभ करत चहल ॥
 पूजा मेटि गोपाक इन्द्र करत हई हान ।
 सूर श्याम राखहु अब गिरिवर बल ॥

—सूरसागर, पृ० २७३, ४८ ।

प्रकृति का प्रकोप जल और आग के रूप में जितना प्रबल होता है उतना किसी अन्य रूप में नहीं । पवन का झकोरा भी इन्हीं से प्रेरित होकर चलता है । अतः उसके मूल में भी इन्हीं दोनों का हाथ समझना चाहिये । इनमें से जल का प्रकोप तो देख लाया गया अब दावानल की उग्रता कितनी भयकरता के साथ फैलती है और दावानल किमी आतुरता से दोड़ता है, इसे भी देख लें । लीजिये—

भइरात झइरात दवा (नल) आयो ।
 घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर बन, घरनि अकास चहुँ पास लायो ॥
 बरत बन बाँस, घरहरत कुम काम, जरि उरत है भास अति प्रबल भायो ।
 झपटि झपटत कपट, फूलफल खट खट क, पटत कट लटकटुमटुमनबायो ॥
 अति आगनि झार, भभार धुधार करि, उच्चरि अंगार झझार लायो ।
 बरत बन पात, भइरात झइरात अररात तरु महा, घरनि गिरायो ॥
 भए बेहाल सब ग्वाल ब्रजबाक तब, सरन गोपाल कहिके पुकारायो ।
 तृना केसी सकट बकी बक अचासुर, बाम कर राखि गिरि क्यों उपाययो ॥
 नैकु बीरज कही, जियहि कोउ जिन डरी कहा हदि सरी लोचन मुदाए ।
 मुठी भरि कियो, सब नाह मुखही दिखो, सूर प्रभु पियो ब्रजजन बचाए ॥

—सभा सं०-१२२४ ।

सूरदास ने भयानक रस की व्यञ्जना के लिये ऐसे ही उपद्रवों को चुना है। भयानक के अतिरिक्त और कहीं ऐसा वर्णन उन्हें नहीं आता। सूरने व्यापक रूप से जिस रस को लिखा है वह शृंगार ही है और प्रकृति उसी में योग देने के लिये सदा आई भी है। इस शृंगार को यदि वास्तव्य से सर्वथा भिन्न माना जायगा तो कहना होगा कि रति व्यापार के बढ़ाने में ही सूर की प्रकृति लीन है। वास्तव्य भी रति न सही स्नेह का ही परिपाक है। अतः उसको भी रति के भीतर समझ लेना कोई भूल नहीं।

रसों की दृष्टि से कहना होगा कि सूर का प्रिय रस शृंगार ही है इसी को उन्होंने 'महारस' कहा भी है। शृंगार के साथ ही साथ जिस रस पर सूर की ओर भी विशेष दृष्टि रहती है वह है अद्भुत। अद्भुत और शृंगार का सम्बन्ध सूर की साधना और कृष्ण की लीला से अधिक है। अतः उनका सूरसागर में अधिक होना ही स्वाभाविक है। इनके उपरान्त जिस रस को अन्यो से अधिक महत्त्व मिला है वह है वीर-रस। इस वीरता का सच्चा परिपाक कृष्ण के व्रज जीवन में उतना नहीं हुआ है जितना अन्यत्र। सूरदास वीर रस के चित्रण में कितने सफल हो सकते थे इसको भीष्म के प्रसंग में देखना चाहिये। भीष्म की यह प्रतिज्ञा कितनी सजीव और समर्थ है—

आजु जो हरिहि न सख गहाउँ ।
तो लाजौ गगा जननी कीं सातनु सुन न कहाउँ ।
स्यदन खैंड महारथि लहौं, कपिध्वज सहित गिगाउँ ।
पाँडव दल समुल्ल हूँ पाऊँ, सगिता रुधिर बहाऊँ ॥
इती न करौं सरथ तो हरिको, छात्रिय गनिहि न पाऊँ ॥
सूरदास रन भूमि बिजय बिनु, जियत न पीठि दिलाऊँ ।

—सभा स०- २७० ।

सूरदास ने शृंगार में रति के साथ ही साथ रति-रस की चर्चा भी कहीं कहीं की है—

दोऊ राजन रनि-रण भीर ।
 महा सुभट प्रगटे भूतल वृषभानु सुता बळभीर ॥
 भीहैं घनुष चढ़ाह परस्पर सजे कवच तनुचीर ।
 गुण संचान निमेष घटत नहि छुटे कटाक्षनि तीर ॥
 नल नेजा आकृत उरठागे नेक न मानत पीर ।
 मुरकि घरनि डारि आयुष लै गहे सुमुज भट भीर ॥
 प्रेम समुद्र झोंकि मर्यादा उमंगि मिळे तजि तीर ।
 करत बिहार कुहुँ दिशते मानो सीसत सुषा शरीर ॥
 अति बळ जीवन यह कबिर रवि बदन मिली अम नीर ।
 सूरदास स्वामी अरु प्यारी बिहरत कुज कुटीर ॥

—सूरसागर, पृ० ३७४-९१ ।

सूर ने रौद्र रस को भी उन्हीं वृत्तों में लिखा है जो कृष्ण के बिनाश के हेतु हुये हैं । काळी नाग से कृष्ण की जो ठन गई है उसमें उसके क्रोध की अच्छी व्यंजना हुई है—

झरकि के छिरकि के नारि दे गारि गिरघारि तब
 पूछ पर जात दे अहि जगायो ।
 उठयो अकुलाई, हर पाह लगनाह को,
 देखि बाकक गरब अति बढ़ायो ।
 पूँछ लोन्ही कटक घरनि लौ गहि पटक
 ऊँकरयो कटक करि क्रोध फूले ।
 पूँछ राखी साँपि, रिसनि काळी काँपि
 देखि सब साँपि अवसान भूले ।
 करत फन पात, बिष जात रतरात अति
 नीर जरि जात, नहि गात बरसे ।

सुरके स्वाम, प्रभु लोक अभिराम,

बिनु जान अहिराज बिष जाक बरसे ।

—सभा सं० ११७० ।

कृष्ण की सच्ची धारा भी इसी स्थल में बही है । कृष्ण दह में कूद पड़े हैं ।
पता नहीं क्या हो गया । समाचार सुनते ही:—

त्राहि त्राहि करि नन्द तुरत दोरे जमुना तट ।
जमुमति सुनि यह बात, चली रोबति तोरति लट ।
ब्रजवासी नरनारि सब, गिरत परत चले धाइ ।
भूषयो कान्ह सुनी सभनि, आनि व्याकुल मुरझाइ ।
जई तहँ परी पुकार, कान्ह बिनु भए उदासी ।
कोन कह सौं कहे, अतिहि व्याकुल ब्रजवासी ।
नन्द जसोदा अति बिकल, परत जमुन मै धाइ ।
और गोप उपनन्द मालि, भौह पकरि ले भाइ ।
धेनु रिरति निकलाति बच्छ घन कोऊ न लगावे ।
नन्द जसोदा कहत कान्ह बिनु कोन खरावे ।
यह सुनि ब्रजवासी सबै, परे घरनि अकुलाइ ।
हाय हाय करि कहत सब, कान्ह गयो कहँ जाइ ।
नन्द पुकारत रोह बुझाई मै मोहि छाँड्यो ।
कछु दिन मोह लगाइ, जाइ जल भीतर मोछ्यो ।
यह कह घरनी गिरत, औ तह कटि गिर जाइ ।
नन्द घरनि यह हे लके, कान्हहि टोरि बुझाई ।
निठुर भए सुन आउ, तातकी छोह न आवति ।
यह कहि-कहि अकुलाइ, बहुनि जल भँतर पावति ।
परति यह जमुना-सखि, गहि आननि ब्रजनारि ।

नैकु रही सब मरहिगी, को है जीवन हारि !
 त्याग गए जल बूझि वृथा चिक जीवन अंगकौ ।
 सिर फोरति, गिरि जाति, अभूषन तोरति अंगकौ ।
 मुरछि पगी, तनु सुधि गई, प्रान रहे कहूँ जाह ।
 इलचर आए चाहकै, जननि गई मुरसाई ।

—सभा स०-१२०७ ।

शान्त और हास्य तो विनय और विनोद में हैं ही । इसके विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं । परिक्षित के हृदय में जो निवेद होता है वह भी शान्त रस का रूप धारण कर लेता है । बाल-विनोद में हास्य तो है ही । जहाँ तहाँ व्यंग्य के रूप में अन्य प्रकरणों में भी आ जाता है । रहा बाभरस, सो उसमें सूरकी रुचि नहीं । उसका सूर में अभाव ही समाप्तये । बाभरस का वर्णन प्रायः कवियों ने रण-क्षेत्र में किया है और उसके द्वारा वैरी की दुर्गति को बताया है । पर सूरदास की दृष्टि शत्रु की दुर्गति पर कभी जाती ही नहीं । शत्रु का बोटी बोटी कर देने की भावना सूरदास की गोपिका में उठती है, सो भी चन्द्रमा जैसे शत्रु को, उसकी चबल चाँदनी से लालकर ही :—

कर भनु बिये चन्द्रहि मारि
 तब तो वे कछुवे न सिरहें भति ज्वर जेहै तनु चारि ।
 सूर बाहि जाह माधरचाह शशि सम्मुख दर्पण किस्तारि ।
 ऐसि भाँति बुझाई मुकुर भदि भति बल खंड खंड करि हारि ॥
 सोई अवधि आई है चकते ही जोदई मुरारि ।
 सूरसो विनय करति हिम करसो अब तु ठसोम छाँड दिन चारि ।

—सूरसागर, पृ० ६३३-५७ ।

किन्तु सबप्रसन्न किसी ने अपने शत्रु को खंड-खंड में विभाजित कर गीदड़ों के लिये छोट दिया हो, ऐसा कहीं नहीं मिलता ।

कम्ब की दृष्टि से सूरदास के समान्य में स्वतंत्र रूप से और अधिक कुछ

नहीं कहना है। केवल इतना और जता देना है कि सूरदास के जिन पदों को रहस्यवाद का रूप समझा जाता है उनका रहस्य कुछ और ही है। दुःख की बात तो यह है कि अभी तक सूरसागर का सम्पादन ऐसा न हुआ जिससे सूरकी स्थिति स्पष्ट हो और उनके काव्य को आदर्श रूप मिले। सूरसागर की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें इस प्रकरण को बहुत ध्यान से देखना चाहिए और इसकी एक ताळिका प्रस्तुत होनी चाहिये कि सूरसागर में जो मन-प्रबोध और चित्त-बुद्धि-सम्बाद मिळता है उसकी स्थिति किसमें क्या है। प्रकरण का दृष्टि से यह प्रसंग राजा परीक्षित के निवेद में आता है। 'मन-प्रबोध' का एक पद है—

करि मन नन्द नन्दन ध्यान
 सेव चरन सरोज सीतल, तजि विषय रस पान ।
 जानु जंघ त्रिभंग सुन्दर, कलित कंचन दंड ।
 काछनी कटि पीत पट-दुति, कमल केसर खड ।
 मनौ मधुर मराल छौना, किंकिनी कल राव ।
 नाभि हृद, रामावली-अलि, चळ सहज सुभाव ।
 कंठ मुक्तामाल, मलयज, उर बनी बन माल ।
 सुरसरी कै तीर मानौ लता स्याम तमाळ ।
 बाहु-पानि सरोज पल्लव, घरे मृदु मुख बेनु ।
 अति बिराजत बदन बिधुवर सुरभि रंजित रेनु ।
 अघर, दसन, कपोल, नासा, परम सुन्दर नैन ।
 चलित कुंडल गड मंडल मनहुँ नर्तन मैन ।
 कुटिल भूपर तिलक रेखा, सीस सिखिनि सिखंड ।
 मनु मदन बनुसर सँघाने, देखि घन को दंड ।
 सूर श्री गोपाळ की छवि, दृष्टि भरि भरि लेहु ।
 प्रानपति का निरखि सोभा, पलक परन न देहु ।

यही सूरदास का इष्ट है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु विचारणीय बात तो यह है—

चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग ।
जहं भ्रम निसा होति नहि कबहुँ सोइ सायर सुख जोग ।
जहाँ सनक-सिव हस, मीन मुनि, नख रवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल, निमिष नहि ससि डर, गुंजत निगम सुवास ।
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ता फल, सुकृत अमृत न रस पीजै ।
सो सर छांछि कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै ?
लछमी-सहित होति नित क्रीडा, सोभित सूरजदास ।
अब न सुहात विषयरस छीलर, वा समुद्र की आस ।

—सभा सं०—३३७ ।

निश्चय ही यह 'चरन-सरोवर' वैकुण्ठ-धाम है, जहाँ क्षीरशायी विष्णु भगवान् लक्ष्मी के साथ विहार करते हैं। सूर इस धाम को अपना धाम नहीं समझते, यह तो 'सूरसागर' से प्रकट ही है। सूरदास की दृष्टि में तो लक्ष्मी सहित विष्णु भी रास-रस को तरसते हैं फिर सूर का इष्टधाम इसे कैसे मान सकते हैं ? तो फिर इसका रहस्य है क्या। सूरदास का इसी सवाद का दूसरा पद है—

चल सखि तिहि सरोवर जाहि ।
जिहि सरोवर कमल कमला, रति बिना बिकसाहि ।
हंस उष्वल पंख निमल, अंग मलि मलि न्हाहि ।
मुक्ता मुक्ति अनगिने फल, तहाँ चुनि चुनि खाहि ।
अतिहि मगन महामधुर रस, रसन मध्य समाहि ।
पदुम बास सुगन्ध सीतल, वेल पाप नसाहि ।
सदा प्रफुलित रहै, जल बिनु निमिष नहि कुम्हिलाहि ।
सधन गुंजत बैठि उन पर भौरहुँ बिरमाहि ।

देखि नीर जु छिलछिलौ जग, समुझि कळु मन माहिं ।
 सूर क्यों नहिं चलै उडि तहँ बहुरि उडिबौ नाहिं ।

सभा० सं०-३३८ ।

इसमें महामधुर-रस तो है किन्तु कहीं सनक, सिव आदि का उल्लेख नहीं है । तो क्या यह निर्गुण पन्थ का सरोवर है । स्मरण रहे, यह निरा सरोवर है चरण सोवर नहीं । उत्तर देने के पहले तीसरे पद पर भी विचार कर लें । कहते हैं—

भृंगी री, भजि श्याम कमल पद जहाँ न निसि कौ त्रास ।
 जहँ बिधु-भानु समान, एक रस, सो बारिज सुख रास ।
 जहँ किजलक भक्ति नव लच्छन, काम ज्ञान रस एक ।
 निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनिमन भृंग अनेक ।
 सिव-बिरंचि खजन मनरजन, छिन छिन करत प्रवेश ।
 अखिल कोष तहँ भरयो सुकून जल प्रगटित श्याम दिनेस ।
 मुनि मधुकरी, भ्रम तजि कुमुदनि कौ, राजिव बर की आस ।
 सूरज प्रेम सिन्धु मैं प्रफुलित, तह चलि करै निवाम ।

—सभा सं०-३३९ ।

इसमें 'श्याम-कमल-पद' है, इसमें 'भक्ति-नव लच्छन' है, इसमें 'काम ज्ञान रस एक' है, इसमें निगम, सनक, शिव विरंचि, आदि हैं, इसमें सुकून है और है इसमें 'श्याम-दिनेस' । तो क्या यही सूर का इष्ट है ? हाँ, यही सूर का वह धाम है जहाँ किसी का त्रास नहीं, पर वास सब का है और जहाँ किसी प्रकार का मेद-भाव नहीं, सभी में एक रसता है । अस्तु, हमारा कहना है कि इस संवाद में सूरदास ने विष्णु 'अलख पुरुष' और 'भगवान कृष्ण' की उपासना को अपने अपने क्षेत्र में व्यक्त किया है और अन्त में चित्त और बुद्धि दोनों का मेल श्याम-दिनेश' में करा दिया है ।

सूरदास का यह अध्ययन तब तक अधूरा ही समझा जायगा जब तक इसमें

अलंकार पिंगल और देश-काल की भी योड़ी सी चाशनी न आ जाय। अलंकार के बारे में तो हमें यही कहना है कि सूर का सब से प्रिय अलंकार है रूपा, और उसके उपरान्त स्थान है उत्प्रेक्षा का। रूपक और उत्प्रेक्षा के द्वारा सूरदास ने अपनी कविता को जो कला का रूप दिया है वह रम्य, भव्य और सुन्दर है। इन अलंकारों का लगाव उनकी साधना से भी है। रूपा में रूप तो है ही और इस रूप को नाना अवसरों पर नाना रूपों में सूर ने देखा है। रूप को सूर ने बहुत ही महत्त्व दिया है। रूप को छाड़ कर मधुर-रस सब भी नहीं सकता। कृष्ण और राधा का जो रूप रूपक के रूप में हमारे सामने आया है वह अद्वितीय है। किस अवसर पर सूर किसकी क्या छवि उतारते हैं और उसका कैसा शृंगार करते हैं इसके अध्ययन की आवश्यकता है। उनका यह रूपक यहाँ तक सामिन नहीं रह जाता है। वह प्रकृति में भी चारों ओर फैल जाता है और शासन में भी। हम यहाँ शासन के रूपक के सम्बन्ध में ही कुछ कहना चाहते हैं। सूर ने 'ठाकुर', 'साहिब', 'पतितेश', 'छिलवार', 'नायक', 'गाय' आदि का जो रूपक बाँचा है वह देश काल के अनुरूप और उनकी कला के अनुरूप है। ऊपर 'कामिना' के जिस कमान कसने का रूप आया है वह भी किता 'तुरकिना' से कम नहीं है। सूरदास ने अपने समय को कितने निकट से देखा है इसके लिये एक उदाहरण लाजिये। उस काल की व्यवस्था यह था कि जब कोई शत्रु किता देश पर आक्रमण करता था तब वहाँ के उच्च मंच पर जा पाहलू स्थित होता था वह इसकी दु दुभी पीट कर सबको सावधान कर देता था। सूरदास इसा का लते हैं—

शिलनि शिलर चढ़ि टेर सुनायो ।

बिरहिन सावधान हँ रहियो सजि पावस दल आयो ॥

नव बादल बानैत पवन ताजी चढ़ चुटाक दिखायो ।

चमकत बीजु शैलकर मडित गरजि निसान बजायो ॥

दादुर मोर चातक पिकके गण सब मिलि मारु गायो ।

मदन सुभट करवाण पंच लै ब्रजतन सन्मुख धायो ॥

जानि विदेश नन्द को नन्दन अवलन त्रास दलायो ।

सूर श्याम पहिले गुण सुमिरिहि प्राण जात बिरमायो ॥

—सूरसागर पृ० ६३०-४० ।

इस प्रसंग को अधिक बढ़ाने का यह अवसर नहीं है। सच तो यह है कि सूरदास ने अपने समय की शासन-प्रणाली का ऐसा रूप उपस्थित कर दिया है कि हम यदि उसको जगह जगह से चुन कर एकत्र कर लें तो वह इतिहास की बहुत सी उलझनों को दूर करने में समर्थ होगा। प्रसंग दान-लीला का है। कृष्ण दान चाहते हैं। गोपियाँ कहती हैं, दही-दूध पर चुंगी नहीं लगती। चुंगी तो मर मसालों पर लगती है इसी प्रसंग में सूरदास ने उन सामग्रियों का उल्लेख भी कर दिया है जिनके इतिहास से अपरिचित होने के कारण एक महानुभाव ने उन्हें योरप के व्यापारियों का प्रसाद समझना चाहा है किन्तु यह जान रखना चाहिये कि यह व्यापार यहाँ का बहुत पुराना है और यूरोप के लोग भी इस व्यापार के लिये ही यहाँ आ गये थे। अच्छा तो वह पद है—

कहौ कान्ह कह गथ लै हमसों ।

जो कारण युवती सब अटकीं सो बूझत हैं तुमसों ॥

लोग, नारियर दाख सुपारी कहा लादे हम आवैं ।

हींग मिरच पीपरि अजवाइनि ये सब बनजि कहावैं ॥

कूट काइफर सोठि चिरैता कटजीरा कहूँ देखत ।

आलम जीठ लाख सेदुर कहूँ ऐसे ही बुधि अवरेखत ॥

बाइबिरंग बहेरा हरै कहूँ बेल गोद व्यापारी ।

सूर श्याम लरकाई भूली जोबन भए मुरारी ॥

—सूरसागर, पृ० ३०८-८ ।

इसी क्रम का छन्द २९ भी इस जानकारी में सहायक होगा।

पिगल के विषय में यह तो निर्विवाद है कि सूरदास ने जो कुछ लिखा है राग में लिखा है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि 'सूरसागर' में छन्दों की विविधता नहीं है। यदि पिगल की दृष्टि से सभी छन्दों का देखा लिया जाय तो

वह किसी भी इस वर्ग के प्रसिद्ध कवि के छन्दों से कम नहीं तुल्यगा। सूरसागर में पद ही नहीं, राग के भीतर कवित्त, छप्पय, रोल्हा, आदि भी हैं और बहुत सी लम्बी कथायें तो प्रायः चौपाई में ही लिखी गई हैं। कहने का तात्पर्य यह कि इस दृष्टि से भी सूर का अध्ययन होना चाहिये और देखना यह चाहिये कि छन्द, राग पिंगल आदि की स्थिति क्या है और किस विषय की रचना किस छन्द और किस राग में अधिक हुई है और क्यों।

सूरदास में राजनीतिक दौंव-पेंच बहुत कम हैं। अंगद और रावण के विवाद में यह गोचर होता है कि रावण किस प्रकार अमर्ष और प्रलोभन के द्वारा अंगद को तोड़ना चाहता है और कंस के प्रकरण में भी प्रकट होता है कि किस प्रकार वह आव-भगत और 'सिरोपाव' के द्वारा ब्रजवासियों को ठगना चाहता है। अन्यथा 'सूरसागर' में इसका अभास ही है। कहीं ठौर-ठिकाने का निरूपण नहीं।

'सूरसागर' में उस समय का समस्त ब्रज-जवन समेट कर रख दिया गया है। ब्रज में किन किन अवसरों, किन किन पर्वों, और किन किन त्योहारों पर क्या होता था, इसका भी विवरण पाया जाता है। उस समय का शृंगार क्या था, प्रसाधन क्या था और लोग कैसी वेषभूषा धारण करते थे यह भी 'सूरसागर' में पर्याप्त मात्रा में दिखाई दे जाता है। उस समय के खान-पान और भोज्य पदार्थों का भी पूरा विवरण 'सूरसागर' में मिलता है—फल का भी, मिष्ठानन का भी, अन्न का भी और अचार का भी। कहाँ तक कहें, जानकारी की बहुत सी बातें सूर में भरी पड़ी हैं जो काव्य में उपयोगी भले ही न हों पर जीवन में जिनका उपयोग सदा बना रहेगा। सूरदास की प्रवृत्ति इस क्षेत्र में जायसी के साथ है। जायसी ने भी इसका विधान अपने यहाँ किया है और सूर ने भी। सूर में जायसी की अपेक्षा अधिक वस्तुओं का विवरण है किन्तु वह ब्रज जीवन तक ही बहुत कुछ सीमित है और सो भी गोप गोपी जीवन तक। उसमें राजा की विभूति है पर अपेक्षा कृत थोड़ी मात्रा में।

सूरदास भाषा में रचना करते थे। इसका उन्हें खेद भी था। उस समय भाषा में रचना करना किसी विद्वान को भाता नहीं था। सूरदास परिचित थे इसे

कोई नहीं मानता। कोक-कलाविद् ये यह उनकी रचना से विदित है। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि सूरदास संस्कृत से सर्वथा मुक्त हैं। पुराणों से सूर ने कथा ली है और लिया है उनका भाव तथा विचार भी। इसको उन्होंने माना भी है और लिखा भी है परन्तु प्रतीत यह होता है कि उन्होंने यह सब कुछ सुन-सुना कर किया है, पढ़-पढ़ाकर नहीं। यदि सूर को संस्कृत का बोध होता तो संस्कृत में उनकी कोई रचना नहीं, तो छन्द तो अवश्य होता। संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों का जहाँ तहाँ भाव सरसागर में मिलता है। प्रमाण के लिये सूरदास का यह पद ले लीजिये और देखिये कि यह मेघदूत का ऋणी है वा नहीं। सूर का पद है—

अद्भुत कौतुक देखि सखी री, श्री वृन्दावन में होइ परी री।

उत घन उदित सहित सौदामिनि इतहि मुदित राधिका हरी री।

उत बगपांति शोभित इत मुदर घाम विलास मुदेश खरी री।

वहाँ घन गर्ज इहाँ ध्वनि मुखली जलधरइत उत अमृत भरी री॥

उतहि इन्द्रधनुष इत बनमाला अति बिचित्र हरि कण्ठ धरी री।

सूर साथ प्रभु कुँवरि राधिका गगन की शोभा दूरि करी री॥

—सूरसागर, पृ० ५३०-५७।

उधर मेघदूत का श्लोक है—

विद्युत्स्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः,

संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।

अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाम्राः,

प्रासादास्त्वां तुल्यितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः।

—उत्तरमेघ-१।

हाँ, तो सूरदास ने भाषा में रचना की है और की है ब्रजभाषा में। किन्तु उनकी ब्रजभाषा खरी या ठेठ ब्रज-भाषा नहीं है। वह तो साहित्य की ब्रज-भाषा है। सूरदास के पहले ब्रजभाषा में रचना ही नहीं होती थी, यह कहना ठीक नहीं। संगीत में ब्रजभाषा सूर के बहुत पहले से चली आ रही थी और उसमें गीत भी बहुत से गाये जा चुके थे। सूर ने शब्दों पर ध्यान दिया और ध्यान दिया उनकी शक्ति तथा व्यंजना पर। उनको कभी यह चिन्ता न हुई कि यह शब्द ग्रामीण है

या शिष्ट, अरबी है या फारसी। प्रसंग के अनुकूल जिस भाषा में व्यंजना हो सकती थी, उसी में हुई। सूर की भाषा, भाव और विचार के साथ चलती है। तत्सम, तद्भव और ठेठ शब्दों के साथ ही साथ अरबी फारसी के चलिता शब्दों को भी ग्रहण करती है। दुरूह वहीं हो जाती है जहाँ वह उस समय का साहिबी ठाठ दिखाती है। ऐसे ठाठ में साकेतिक अरबी शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त सूर की भाषा सरल, सुबोध और सशक्त है। पात्र और प्रसंग के अनुसार वह चटपटी, गंभीर ऐंठती और मटकती हुई चलती है। उसमें जहाँ 'छिनाल' और 'मेहरा' जैसे मुँहफट शब्दों को स्थान मिला है वहाँ शिष्ट और संस्कृत शब्दों को भी। सूर समास के प्रेमी नहीं, व्यास के अवतार हैं। फयती कसने और चुटकी लेने में बड़े निपुण और विनोद में बहुत ही स्मित और खुले हुए हैं। सूझ, समझ से काम लेते और भाषा को सरम बना देते हैं। शब्दों के कुछ ऐसे रूप भी सामने आ जाते हैं जो अत्यन्त देशी होने के कारण कठिन पढ़ जाते हैं और कुछ अति विकृत हो जाने के कारण भी। कहीं कहीं अवसर को देखकर ही सूर 'ट' को बहुत अपनाते हैं। किसी किसी शब्द में लक्षण का प्रगल्भ चमत्कार भी पाया जाता है, पर सूर वस्तुतः व्यंजना के ही कवि हैं। सूर में व्यंजना है और विवरण है। दोनों का पथ अलग अलग है। हाव-भाव और अनुभाव की अपेक्षा सूर भाव के ही कवि अधिक हैं और रस ही उनको सदा इष्ट है, कोरा चमत्कार कभी नहीं।

सूर के सम्बन्ध में संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूर की कविता, कविता नहीं, हृदय की झंकार है। हृदय का जैसा मधुर दर्शन सूर में होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। रति के क्षेत्र में सूर अकेले हैं और अन्यो से इतने अलग हैं कि हिन्दी का कोई दूसरा कवि उनके निकट तक पहुँच ही नहीं सकता। महात्मा तुलसीदास रति के कवि नहीं। रति के क्षेत्र में तो वह बहुत फूँक कर पाँव रखते हैं और इस काली कोठरी से अपने आप को निलिप्त निकाल लेना भी चाहते हैं। निकल भी गये हैं। किन्तु संभोग के विकट क्षेत्र को छोड़कर और यदि कहीं छिया भी है तो अत्यन्त संयम के साथ और अपनी मर्यादा के भीतर ही। कारण, न तो उनको

बाल राम से ही अधिक काम लेना है और न रसिक राम से ही। उनको तो विवाहित राम को लेना है और लेना है धनुर्धर राम को। तुलसी ने अपने ढंग में सफलता प्राप्त की है और उन्होंने भी शृंगार को अपने ढंग पर दिखाया है पर उनका वह ढंग उन्हीं का ढंग है और उन्हीं जैसे संयमी लोगों के लिए है। पर सूर में यह बात नहीं है। सूर का रस सबका रस है। उनका शृंगार सबका शृंगार है। सूर की यही सबसे बड़ी सफलता है। मधुर-रस की ऐसी व्यापक और मार्मिक व्यंजना साहित्य के क्षेत्र में कहीं भी नहीं हुई है। इस देश के लीला और गुण के कवियों में भी सूरदास की तुलना किसी अन्य से नहीं हो सकती। सूर में लीला है और सूर में है गुण। पर सूर में चरित नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि सूर ने किसी चरित को गिराया है अथवा किसी पात्र का कोई चरित ही उनकी रचना में नहीं है। नहीं, ऐसा नहीं है। उनके सभी प्रमुख पात्रों में चरित है और सबका शील भा अलग है। उनका श्री दामा, सुदामा नहीं, और सुदामा, सुबल नहीं। उनकी चन्द्रावली, ललिता नहीं, और ललिता, सुषमा नहीं। उनकी यशोदा देवकी नहीं और देवकी रुक्मिणी नहीं। उनके नन्द, वसुदेव नहीं। तात्पर्य यह कि उनके सभी पात्रों का शील और स्वभाव अलग अलग है और अलग है उनका चरित भी। सबका स्वरूप उनके सामने है और सबके स्वभाव का निखार है उनके 'सागर' में। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि सूरदास का ध्यान सचमुच चरित-चित्रण पर रहा है, लीला पर नहीं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूर 'लीला' के कवि हैं और कवि हैं हृदय के ही, 'मानस' और 'चरित' के कवि तो तुलसीदास ही हैं। सूर कहते हैं तो तुलसी कहाते हैं, सूर गाते हैं तो तुलसी सुनाते हैं, सूर बताते हैं तो तुलसी जताते हैं। सारांश यह कि सूर और तुलसी हमारे जीवन के दो पक्ष हैं। इनमें से किसी को घट-बढ़ करके देखने की अपेक्षा दोनों को अलग अलग देखना ही साधु है। दोनों अपने अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं और दोनों ही अपने अपने क्षेत्र में सफल भी पूरे हैं। सूर सूर हैं पर तेज तुलसी में है। तुलसी शशि हैं पर दाह सूर में हैं। बस, यही इनका मूल भेद है।

७—रसखान

मियाँ रसखान का रस इतना चोखा उतरा है कि सभी रसिक उसको छककर पीते पर कभी अधाते नहीं हैं। ऐसे रसखान का जीवन भी कैसा रसमय रहा होगा इसका अनुमान तो किया जा सकता है पर इसका विवरण प्रस्तुत करना अभी असम्भव है। कारण यह कि जो कुछ अभी उनके सम्बन्ध में जाना गया है वह इतना अल्प है कि उसके आधार पर कोई सच्ची जीवनी खड़ी नहीं हो सकती। '२५२ वैष्णवन की वार्ता' में उनके विषय में जो कुछ कहा गया है वह सच्चा नहीं कहा जा सकता। इसका प्रधान कारण यह है कि स्वयं रसखान जी ने 'प्रेम-वाटिका' में अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे उसका मेढ नहीं खाता। 'वैष्णवन की वार्ता', से प्रकट होता है कि रसखान पठान थे, किसी साहूकार के बेटे पर आसक्त थे और ये श्रीनाथ जी के अनन्य भक्त। इसमें से कोई भी बात रसखान की किसी भी रचना से पुष्ट नहीं होती। स्वयं रसखान का कहना है—

‘देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।

छिनहिं बादसा-वंस की, ठसक छोरि रसखान ॥ ४८ ॥

प्रेम निकेतन श्रीवनहिं, आह गोवर्धन-धाम।

लह्यो सरन चित चाहि कै, जुगल सरूप लहाम ॥ ४९ ॥

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी-मान।

प्रेमदेव की छविहिं लखि, भए मियाँ रसखान ॥ ५० ॥

विधु-सागर-रस-इन्दु सुभ, बरस सरस रसखानि।

‘प्रेम-वाटिका’ रचिरुचिर, चिर हिय हरख बखानि ॥ ५१ ॥

अरपी श्री हरि चरन जुग, पदुम पराग निहार।

बिच रहि यामें रसिक वर मधुकर-निकर अपार’ ॥ ५२ ॥

—प्रेम-वाटिका।

इस कथन में कहीं से यह ध्वनित नहीं होता कि रसखान पठान थे। बादशाह वंश की ठसक पर ध्यान दें तो प्रकट होता है कि रसखान बादशाह वंश के थे। बादशाह वंश का सीधा अर्थ पठान वंश न होकर मुगल किंवा तुर्क वंश ही होगा। कारण यह कि मुगल बादशाह ही बादशाह की उपाधि से इतिहास में ख्यात रहे हैं। पठान तो मुलतान ही कहे जाते थे। पठानों में शेरशाह सूरी ने भी अपने को 'शाह' ही कहा और उसके वंश में यही उपाधि चलती भीरही। ऐमा मानने का एक दूसरा कारण भी है। 'बिधु-सागर-रस-इन्दु' से सिद्ध ही है कि इस 'प्रेम-वाटिका' की रचना संवत् १६७१ में हुई जो निश्चय ही जहाँगीर का शासन-काल है। इस समय यदि किसी बादशाह वंश की ठसक हो सकती है तो बादशाही मुगल वंश की ही। रही 'देखि गदर हित साहिबी' की उलझन, तो इसके बारे में भी कहा जा सकता है कि यह साहिबी की लड़ाई निज वंश की ही लड़ाई थी, जो या तो अकबर और जहाँगीर की लड़ाई रही होगी या जहाँगीर और खुसरो की। इनमें से पहली संवत् १६५८-५९ में हुई और दूसरी संवत् १६६३-६४ में। उचित तो यह प्रतीत होता है कि इसमें जहाँगीर और खुसरो का ही संघर्ष देखा जाय। क्योंकि वही इसके अधिक निकट ठहरता है और होता भी कुछ पहले से उग्र है।

हाँ, 'दिल्ली नगर मसान' की उलझन कुछ सहसा मुलझती हुई नहीं दिखाई देती है। हमारी समझ में मसान का सम्बन्ध इस गदर से नहीं है, प्रत्युत स्वयं दिल्ली नगर से है। यह आवश्यक नहीं कि गद्दर दिल्ली नगर में ही गदर मचा उसको मसान बना दे तभी रसखान दिल्ली नगर को 'मसान' कहें। सच तो यह है कि दिल्ली नगर जैसा राजवंशों का 'मसान' कोई दूसरा नगर नहीं। कौरवों से लेकर पठानों तक न जाने कितने राज-वंश दिल्ली नगर में नष्ट हो चुके थे। अतः रसखान का दिल्ली नगर को मसान कहना ठीक ही था। सच पूछिये तो रसखान को बादशाह वंश से ही नहीं दिल्ली नगर से भी घृणा हो गई थी। और यह इसी घृणा का परिणाम है कि उनको दिल्ली छोड़कर गोवर्धन धाम की यात्रा

करनी पड़ी और 'जुगल सरूप' की शोभा में अपने आप को रमा देना पड़ा। 'दिल्ली नगर मसान' में किसी 'मरी' का संकेत हो तो कोई अचरज नहीं।

रसखान ने 'प्रेम-निकेतन श्रीवन' का नाम लिया और नाम लिया गोवर्धन धाम का भी। साथ ही शरण और युगल-स्वरूप का भी निर्देश किया। किन्तु कहीं भी इसका संकेत तक नहीं किया कि उन्होंने श्रीनाथजी को अपना इष्टदेव बनाया अथवा गोस्वामी श्री ब्रिट्ठलदास जी की शरण ली। भूलना न होगा कि श्रीनाथ जी के जिस बालरूप को वल्लभ सम्प्रदाय में इतनी प्रतिष्ठा है, रसखान की रचना में उसका सर्वथा अभाव है। अस्तु, कोई कारण नहीं कि हम केवल वार्ता में लिखित होने के कारण रसखान को श्री वल्लभ-सम्प्रदाय का शिष्य समझें। रसखान यदि इस कुल के भक्त होते तो इसका उल्लेख भी अवश्य करते। जब ऐसा कहीं कुछ भी नहीं है तब वार्ता को ही अक्षरशः प्रमाण क्यों मानें।

अब रही रसखान की आसक्ति। सो प्रकट ही है कि रसखान 'मानिनी का नाम' लेते हैं किसी मानी का मान नहीं। इतना ही नहीं, रसखान ने जिस बाद-शाही ठसक का ऊपर उल्लेख किया है वह तो कभी किसी बनिये के बेटे की चाकरी में व्यक्त नहीं होती, नहीं, 'वार्ता' ने यहाँ भी कपोल को ही पुराण मान लिया है। रसखान ने 'तोरि मानिनी ते हियो' में अपनी स्थिति को आप ही स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने अपनी मानिनी नायिका से अपना हृदय तोड़ लिया और उस मोहिनी के मोहने के अभिमान को फोड़ भी दिया। उन्होंने उसे प्रत्यक्ष बता दिया कि जिस छवि पर तुम इतरा रही हो वह छवि वस्तुतः तुम्हारी नहीं है। वह सच-मुच जिसकी छवि है हम उसकी छवि-छटा को देख चुके हैं और अब तो उसके प्रसाद से हम स्वयं रसखान हो गये हैं, रस की खानि और रस के खान भी। बस हम उसी प्रेम-देव के पुजारी हैं जिसकी छवि के छींटे पर तुम इतनी इतरा रही हो।

रसखान को रसखान शब्द इतना प्रिय था कि उन्होंने इसकी व्याख्या स्वयं ही कर दी है—

‘वैन वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन वैन सो सानी ।

हाथ वही उन गात सरै अरु पाँह वही जु वही अनुजानी ॥

जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी ।

त्यो रसखान वही रसखानि जु है रसखान सो है रसखानी ॥’

रसखान ने अन्तिम चरण में स्पष्ट कर दिया कि सचमुच वही रस की खानि जो वस्तुतः रस की खानि है और रसखान भी तभी रसखान है जब वह भी ही रसखानि हो जाय जो सचमुच रसखानि है । रसखान ने मनमानी करनेवाली निनी से मन मोड़कर जिस रसखानि में उसको लगाया था उसी रसखानि के रहे, इसमें संदेह नहीं । रसखान ने सच कहा है कि मन के एक होने में ही सच्चा प्रेम नहीं है । नहीं, सच्चा प्रेम तो तब समझना चाहिये जब तन भी एक जाय—

दो मन इक होते सुन्यो, पै वह प्रेम न आहि ।

होइ जबै द्वै तनहुँ इक, सोई प्रेम कहाहि ॥ ३४ ॥

जैसे—

अकथ कहानी प्रेम की, जानत लेली खूब ।

दो तनहुँ जहँ एक भे, मन मिलाय महबूब ॥ ३३ ॥

लैली और उसके महबूब की बात तो तब रही जब मियाँ रसखान कोरे मियाँ ६ । अब तो उनकी स्थिति यह है—

जदपि जसोदा नन्द अरु, ग्वाल बाल सब धन्य ।

पै जा जग में प्रेम को, गोपी भई अनन्य ॥ ३८ ॥

वा रस की कछु माधुरी, ऊघो लही सराहि ।

पावे बहुरि मिठास अस, अब दूजो को आहि ॥ ३९ ॥

भवन, कीरतन दरसनहि जो सपजत सोइ प्रेम ।

सुद्धासुद्ध विमेद तें, द्वै विष ताके नेम ॥४०॥

स्वारथ मूल असुद्ध त्यों, सुद्ध स्वभाव अनुकूल ।

नारदादि प्रस्तार करि, कियो जाहि को दूल ॥४१॥

सारांश यह कि रसखान नारदी भक्त थे श्री बल्लभी नहीं । कुछ भी हो रस-
खान की सच्ची कामना है—

मानुस हौं तो वही 'रसखान' फिरोँ मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन ।

जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मैझारन ॥

पाहन हौं तो वही गिरि को जो घरयो पुर छत्र पुरन्दर धारन ।

जो खग हौं तो बसेरो करौ नित कालिन्दी-कूल कदम्ब की डारन ॥१॥

—रसखान, पदावली, १ ।

कहा जाता है कि रसखान श्रीमद्भागवत का फारसी में अनुवाद पढ़ रहे थे और उसी में उनको कृष्ण के प्रति गोपियों का जो भाव मिला वही उनको अपना इष्ट दिखाई दिया । यह कथा सत्य दिखाई देती है । 'प्रेम वाटिका' में रसखान ने गोपियों का नाम जिस आदर के साथ लिया है सो तो है ही । उनका यह भी अनूठा उल्लास है—

‘या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौ ।

आठहूँ सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौ ।

‘रसखान’ कबौ इन आँखिन तैं ब्रज के बन, बाग, तडाग निहारौ ।

कोटिन हूँ कलघौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौ’ ॥३॥

जिससे ध्वनित होता है कि रसखान सचमुच ‘कलघौत के धाम’ को छोड़ कर ‘करील की कुंजों’ में दौड़ पड़े थे । प्रसंगवश इतना और जान लेना चाहिये कि श्रीमद्भागवत का सर्वप्रथम फारसी में अनुवाद अकबर के ही समय में हुआ था और किया था सम्भवतः फौजी ने सन् १५९५ ई० के पूर्व ही, क्योंकि यही उसका

निधन सन है। इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि रसखान ने 'प्रेम-वाटिका' में अपने विषय में जो कुछ कहा है उससे यही सिद्ध होता है कि वह मुगल-वंश के ही थे। और मुगल दरबार की ब्रज-भाषा-प्रियता से भली भाँति प्रभावित थे।

रसखान के बारे में जो कुछ कहा गया है उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि रसखान लौकिक प्रेम की ओर से अलौकिक प्रेम की ओर मुड़े और अन्त में उसी के हो भी रहे। उनका एक दोहा है—

आनँद अनुभव होत नहिं, बिना प्रेम जग जान।

कै वह विषयानन्द, कै, ब्रह्मानन्द बखान ॥११॥

—प्रेम-वाटिका।

अस्तु, हम देखते हैं कि रसखान की रचना में भी यह सूफी रंग रह रह कर गोचर होता रहता है। सूफी शायरी में 'दीदार' और 'दीवाना' भरा रहता है। रसखान के यहाँ भी 'बिळोकना' और 'बिकाना' भरा है, साथ ही दर्शन और बावलापन भी। शौकना और झुलना भी रसखान में कम नहीं है। सच तो यह है कि रसखान ने ब्रज की लीला को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना इस 'बिळोकने' और 'बिकाने' को। मुसकान का भी जैसा वर्णन रसखान ने किया है वैसा किसी और ने नहीं। 'अहीर रसखान' की मुसकान को तो देखिये। कैसा रंग ला रहा है—

अवहीं गई खरिक गाय के दुहाइवे को,

बाबरी है आई डारि दोहनी यो पान की।

कोऊ कहै छरी कोऊ भौन परी डरी,

कोऊ कहै मरी गति हरी अँखियान की॥

सास व्रत ठाने नन्द बोळत सयाने,

घाय दौरि दौरि जानै मानै खोरि देवतान की।

सखी सब हैंसे मुरझान पहिचान कहूँ,

देखी मुसकान वा अहीर रसखान की ॥१४॥

बीती सो तो बीत गई, आगे की भी दशा यह है कि—

कान दै अँगुरी रहिहो जब ही मुरली धुनि मंद बजै है ।

सोहनी ताननि सों 'रसखान' अटा चढ़ि गोधन मै है तो गैहै ।

टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगन काल्हि कोऊ कितनो समुझै है ।

माई गी वा मुख की मुसकान सझारन जैहै न जैहै न जैहै ॥१५॥

मुसकान तो मुसकान ही, थोड़ी हंसी भी फाँसी का काम कर जाती है ।

देखिये 'बिलोकन' भी यहाँ विराजमान है—

बंक बिलोकन है दुख-मोचन दीरघ लोचन रंग भरे हैं ।

धूमत वारुनी पान किये जिमि झूमत आनन रंग ढरे हैं ॥

गडन पै झलकै छबि कुडल नागरि नैन बिलोकि अरे हैं ।

'रसखान' हरे ब्रज बालनि को मन ईषद हाँसी की फाँसी परे हैं ॥३१॥

वारुणी आये और कोई सूफी खुमार की चर्चा न करे यह कैसे हो सकता है ।

निदान रसखान भी कहते हैं—

आज सखी नंद-नन्दन री तकि ठाढ़ी है कुंजन की परछाहीं ।

नैन विसाल को जोहन को सर बेधि गयो हियरा जिय माहीं ॥

घायल घुमि खुमार गिरी 'रसखान' सम्हार रद्यो तन नाहीं ।

तापर वा मुसकान की डौँड़ी बजी ब्रज में अबला कित जाहीं ॥३३॥

'अबला कित जाहीं' का संकट तो दूर भी हो सकता है किन्तु कहीं जायँ तो किस रूप में जायँ । होता तो यह है—

खंजन नैन फँदे पिंजरा छबि नाहिं रहैं बिर कैसेहूँ माई ।

छूट गई कुलकानि सखी 'रसखान' कली मुसकानि सुहाई ॥

चित्र लिखीसी भई सब देह, न बैन कइँ मुख दीन्हे दुहाई ।
कैसी करौँ जित जाउँ तितै सब बोल उठै यह बावरी आई ॥३०॥

तो भी सन्तोष की बात यह है—

आज सखी इक गोप कुमार ने रास रच्यो इक गोप के द्वारे ।
सुन्दर बानिक सो 'रसखान' बन्धो वह छोहरा भागि हमारे ॥
ये विषना जो हमै हँसती अब नेक कहूँ उतको पग धारे ।
ताहि बंदौ फिर आवँ धरै बिन ही तन औ मन जोवन वारे ॥ ४१ ॥

अनुमान खरा उतरा । परिणाम यह हुआ कि—

जा दिन तें वह नन्द को छोहरो या वन धेनु चराइ गयो है ।
मीठिहि ताननि गोधन गावत बैन बजाइ रिझाइ गयो है ।
वा दिन सों कछु टोना सों कै रसखान हिये में समाइ गयो है ।
कोउ न काहु की कानि करै सिगरो ब्रज वीर बिकाइ गयो है ॥५०॥

सारा ब्रज गिका तो बिका पर ब्रज-बाला बिक कर भी नहीं बिकी । उसने तो ब्रज-जीवन से बदला भी कस कर लिया । बात यह हुई कि—

एक समै इक सुन्दरी को ब्रज-जीवन खेलत दीटि पन्यो है ।
बाळ प्रवीन प्रवीनता कै सरसाय के काँध लै चीर धन्यो है ॥
यो रस ही रस ही रसखान सखी अपनो मन भायो कन्यो है ।
नन्द के लाबिले ढाँक दे सीस हहा मेरो गोरस हाथ भरयो है ॥७३॥

ब्रज-जीवन ने भी समझा कि चेष्टा कुछ ठिकाने की हुई है । जैसा समझा किया भी वैसा ही । उधर उसने भी देखा कि बात कुछ अटपटी हो रही है । उसने जो कुछ किया यह था—

दूर ते आय दिखाय अटा चढ़ जाय गह्यो तहँ दूर ते बारो ।
चित्त कहूँ चितवै कितहूँ हित औरसो चाहि करै चख चारो ॥

रसखान कहे इहि बीच अचानक जाय सिखी चढ़ सास पुकारो ।

सुख गई सुकुमार हियो हनि सैनन सों कछो कान्ह सिघारो ॥ ७४ ॥

कान्ह सिघार तो गये पर चित्त उनका इधर ही रहा । एक दिन और भी पते की सूझी—

मोहन के मन भाय गयो इक भाव सो ग्वाळिनि गोघन गायो ।

ताते लग्यो चट चौहन सों हरवाय दै गात सों गात कुवायो ॥

रसखान लही यह चातुरता चुपचाप रही जब लौं घर आयो ।

नैन नचाय चितै मुसकाय सुओट है जाय अँगूठो दिखायो ॥ ७६ ॥

दिखाने को अँगूठा तो दिखा दिया पर साथ ही ऐसी लगी कि फिर दूर न रह सके । सच है—

नैनन बंक बिसाल के बानन झेलि सकै वह कौन नवेळी ।

वेधत है हिय तीषन कोरसों मार गिरी तिय केतिक हेळी ॥

छोड़े नहीं छिनहुँ रसखानि सु ढागी फिरै द्रुम सों जिमि बेळी ।

रौर परी छबि की ब्रज मण्डल कुण्डल गण्डन कुन्तल केळी ॥ १० ॥

उधर से भी कुछ सिखावन मिली । उससे कहा गया:—

बारही गोरस बेंच री आज तूँ माय के मूढ़ चढ़ै कित मौड़ी ।

आवत जात लौं होयगी साँझ भटू जमुना भतरौड़ लौं ओड़ी ॥

एते में भेंटत ही रसखान हूँ हैं अँखियाँ बिन काज कनौड़ी ।

एरी बलाय लौं जायगी बाजि अबै ब्रजराज सनेह की डौँड़ी ॥ १३ ॥

किन्तु इससे होता क्या है ? रोकने से कहीं ऐसी चाट रुकती है । मुठमेड़ हो ही गई और उसने भी कुछ मुसकरा कर कहा ही—

छीर जो चाहत चीर गहे अजू लेहु न केतक छीर अँचैहों ।

चाखन के हित माखन माँगत खाहु न माखन केतिक खैहों ॥

जानत हों जिय की रसखान सुकाहे को एतक बात बदैहों ।
गोरस के मिस जो रस चाहत सो रस कान्ह जू नेक न पैहों ॥९३॥

कहने को कह तो दिया पर स्वयं उसकी दशा यह हुई—

प्रेम पगे जू रंगे रँग साँवरे मानै मनाये न लालची नैन ।
घावत हैं उत ही जित मोहन रोके रुकै नहीं घूँघट ऐना ॥
कानन लौं कल नाहिं परै सखि प्रीति में भीजे सुने मृदु बैना ।
रसखान भई मधु की मखियाँ अब नेह को बंधन क्यों हूँ छुटैना ॥ १६ ॥

जब किसी प्रकार नेह का बन्धन छूट ही नहीं सकता तब इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है—

मोर की चन्द्रिका मौर लसै दिन दूल्ह है अञ्जि नद को नंदन ।
श्रीवृषभानुसुता दुलही लही जोरी बनी विधिना सुख कदन ॥
रसखान न आवत मोपै कह्यो कछु दोऊ फँदे छबि प्रेम के फंदन ।
जाहि विलोके सभी सुख पावत ये ब्रजजीवन दुःख निकंदन ॥ १४ ॥
‘लली’ ‘लला’ का विवाह हो गया तो—

वह सोई हुती परजंक लली लला लीनो सुआय सुजा भरिकै ।
अकुलाह के चौकि उठी सु डरी निकरी चहै अंकनि तें फरिकै ॥
झटका-झटकी में पट्यो पटुका दरकी अँगिया मुकता झरिकै ।
मुख बोल कढ़े रसि सों रसखान हटो जु लला निविया धरिकै ॥ ८५ ॥

इस प्रसंग में भूलना न होगा कि ‘हटो जु लला’ का अर्थ खरा हटना ही नहीं होता । रसखान का इस विषय में कहना भी है—

प्रेम पगी बतियाँ दुहुँघाँ की दुहुँ को लगी अति ही चितचाही ।
मोहनी मंत्र बसी कर तंत्र हहा पिय की तिय की नहिं नाही ॥ ६८ ॥

‘बस कर मन्त्र’ के लिये इतना और जान लें—

अँखियाँ अँखियाँ सों सकाय मिलाय हिलाय रिझाय हियो भरिबो ।
 बतियाँ चितचोरन चेटक सी रस चारु चरित्रनि ऊँचरिबो ॥
 रसखान के प्रान सुधा भरिबो अघरान पै त्यों अघरा घरिबो ।
 इतने सब मैन के मोहनी जन्त्र पै मन्त्र बसी कर सों करिबो ॥ ८२ ॥

संयोग के उपरान्त वियोग होता ही है । वियोग में सबसे बड़ी विपदा यह होती है कि सुख की स्मृति ही दुःख की जननी होती है । देखिये किस व्यथा से बीती बात जी से बाहर निकल रही है—

काह कहुँ रतियों की कथा बतियाँ कहि आवत है न कछूरी ।
 आई गोपाल लियो भरि अङ्ग कियो मन भायो पियो रसकूँरी ॥
 ताही दिना सों गहीं अँखियाँ रसखान मेरे अंग अङ्ग में पूरी ।
 पै न दिखाई परै अब चावरोँ दैके वियाग बिधा क' मजुरी ॥ ७२ ॥

वियोग ही नहीं वियोग के साथ ही सौत का विरोग भी बड़ा भारी है । मन-भावन आने को तो नित्य कहता है पर आता कभी नहीं है । फेरी की बात भी व्यर्थ रही । जैसे कभी उसका दिन आता ही नहीं । तभी तो किस विषाद से कहती है—

काह कहुँ सजनी संग की गजनी नित बीतै मुकुन्द हो हेरी ।
 आवन रोज कहै मनभावन आवन की न कबौ करी फेरी ॥
 सौतिन भाग बढ्यो व्रज में जिन लट्ट हैं निस रङ्ग घनेरी ।
 सो रसखान लिखी बिधना मन मारिकै आपु बनी हौ अहेरी ॥ ७९ ॥

बाँके बिहारी की छवि ऐसी नहीं कि वह कहीं बँध कर रहे । उसको तो देखते ही पातक भाग जाता है, फिर भला कोई अपने पुण्य-प्रसाद को आँख भरकर क्यों नहीं देखे । देखिये न कैसा मोहन रूप है—

‘अंग ही अंग जराव जरी अरु सीस बनी पगिया जरतारी ।
 मोतिनि माल हिये लटकै लटुआ लटकै सब घूँघरवारी ॥

आन हाथ आन पाँय सब ही के तब हीं ते,
 जब हीं तैं रसखान तानन सुनायगो ॥
 ज्यों ही नर त्यों ही नारी तैसेई तरुनि वारी,
 कहिए कहाँरी सब ब्रज बिललायगो ॥
 जानिये न आली यह छोहरा जसोमति को,
 बाँसुरी बजायगो कै बिस बगरायगो ॥ ६६ ॥

कुबरी पर भी रसखान की पैनी दृष्टि पड़ी है। उनकी गोपिका कहती है—

होती जु कुबरी ह्यों पै सखि भरि लातन मुका बकोटती केती ।
 लेती निकाल हिये की सबै नक छेदिकै कौड़ी पिगाइ कै देती ॥
 ऐती नचाइकै नाच वा रांड को लाल रिझावन को फल देती ।
 सेती सदा रसखान लियो कुबरी के करेजनि सूख से भेती ॥

किन्तु यह तो मन की बात रही। मन में जो बीत रही है सो तो कुछ और है और इसका उपाय भी है यह—

काहू को माई कहा कहिये सहिये सु जोई रसखान सहावैं ।
 नेम कहा जब प्रेम कियो अब नाचिये सोई जो नाच नचावैं ॥
 चाहति हैं हम और कहा सखि क्योंहूँ कहूँ पिय देख न पावैं ।
 चेरिहि सो जु गुपाल रच्यो तौ चलोरी सबै मिलि चेरी कहावैं ॥ ९७ ॥

कुबरी के साथ साथ ऊधो पर भी रसखान की दृष्टि पड़ी है। गोपियाँ ऊधो के पीछे नहीं पड़तीं। उनके योग पर झंखती और यह खड़ी प्रार्थना करती हैं—

सारकी सारी सो भारी लगै घरिहैं कहाँ सीस बधंवर दैया ।
 दासी जु सीख दई सो दई पै लई गहि क्यों रसखान कन्हैया ॥
 योग गयो कुबजा की कलांन में री कब ऐई जसोमति छैया ।
 हाहा न ऊधो कुढाय हमें अब ही कह दै ब्रज बाजै बधैया ॥ १०४ ॥

हिन्दी कविता में काग का भी बड़ा माहात्म्य है। प्रायः उससे शकुन का काम लिया गया है। रसखान ने उसके भाग्य को भी सराहा है—

धूरि भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी ।
खेळत खात फिरैं अँगना पग पैँजनियाँ कटि पीरी कछोटो ॥
वा छवि को रसखानि विलोकत वारत काम कळानिधि कोटी ।
काग के भाग कहा कहिए हरि हाथ सो लैगयो माखन रोटी ॥ ९ ॥

प्रकृति की ओर रसखान की दृष्टि नहीं गई है। ब्रज की भूमि का वर्णन भी उन्होंने कुछ विशेष रूप में नहीं किया है। हाँ, उन्होंने होली का जो वर्णन किया है उसमें भी प्रकृति का दर्शन नहीं किया है। उनके सामने तो बस फागुन का यह रूप है—

आई खेलि होरी ब्रजगोरी वा किसोरी संग,
अङ्ग अङ्ग रंगनि अनंग सरसाइगो ।
कुंकुम की मार वापै रंगनि उछार उडै,
बुक्का औ गुलाल लाल लाल वरसाइगो ॥
छोडै पिचकारिनि धमारिनि बिगोइ छोडै,
तोडै हियहार धार रंग बरसाइगो ।
रसिक सत्तोनों रिझवार रसखान आजु,
फागुन में औगुन अनेक दरसाइगो ॥ ११ ॥

अथवा—

लीने अबाँर भरे पिचका रसखान खड्यो बहु भाव भर्यौ जू ।
मार से गोपकुमार कुमार वे देखत ध्यान टरयो न टर्यौ जू ॥
पूरब पुन्यन दाँव परयो अब राज करो उठि काज करौ जू ।
अंक भरौ निरसंक उन्हें यहि पाख पतिव्रत ताख धरौ जू ॥ ७० ॥

यह और कुछ नहीं, उनकी फारसी रुचि का प्रसाद है। फारसी का भाव पक्ष ही प्रबल है विभाव पक्ष नहीं।

रसखान में रस ही नहीं कला भी है । उस कला को दिखाने के पहले बताना यह है कि रसखान के यहाँ मान को बहुत थोड़ा स्थान है । रसखान को किसी का मान नहीं भाता । उसी को तोड़कर तो ब्रज में आ पड़े थे ? इसी से उनका कहना है—

मान की औधी है आधी घरी अरु जो रसखान डरै डरके डर ।

तोड़िये नेह न छोड़िये पाँ परों ऐसे कटाच्छ महा हियरा हर ॥

लाळ गुपाल को हाळ विलोकि री नैक छुवै किन दै करसो कर ।

ना कहिवै पर वारति प्रान कहा लख वारि हैं हाँ कहिवै पर ॥ ११८ ॥

कहा नहीं जा सकता कि 'हाँ' का पुरस्कार क्या मिलेगा, पर जो मिलेगा वह होगा अपूर्व ही ।

अलंकारों के विषय में विशेष रूप से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रही । जो छन्द प्रसंगवश जहाँ तहाँ उद्धृत किये गये हैं उनमें आवश्यकता से अधिक अलंकार आ गये हैं । तो भी दो एक और उदाहरण का आ जाना विषय के अनुरूप ही होगा । रसखान को यमक बहुत प्यारा है—

मोर पखा सिर ऊपरि राखि हौं गुज की माल गरे पहिरौंगी ।

ओढ़ि पितम्बर लै लकुटी बन गावत गोधन सग फिरौंगी ॥

भावतो मोहि वही रसखान सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी ।

या मुरली मुरली-घर की अघरान घरी अघरा न घरौंगी ॥ ५८ ॥

यमक का एक दूसरा भी रूप होता है जिसे सिंहावलोकन कहते हैं । रसखान ने इस पर भी एक छन्द लिखा है—

बजी है बजी रसखान बजी सुनि कै अब गोप कुमारि न जी है ।

न जी है कदाचित् कामिनी कोऊ जु कान परी वह तान अजी है ॥

अजी है बचाव को कौन उपाव तियान पै मैं ने सैन सजी है ।

सजी है तो मेरी कहा बस है जब बैरिनि बाँसुरी फेरि बजी है ॥ ६४ ॥

रूपकातिशयोक्त की छटा देखनी हो तो रसखान का यह छन्द लेना चाहिये । इसमें शब्दालंकार की भी बहार है—

सोई हुती पिय की छतियाँ लगी बाल प्रवीनि महा मुद मानै ।

केस खुले छहरै बहरै कहरै छवि देखत मैन अमानै ॥

वा रस में रसखान पगी रति रैन जगी अँखियाँ अनमानै ।

चन्द पै बिम्ब औ बिम्ब पै कैल कैरव पै मुकतान प्रमानै ॥ ८६ ॥

उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

मोहन जू के वियोग की ताप मळीन महा द्युति देह तिया की ।

पकज सो मुख गो मुरझाय लगै लपटै विरहागि हिया की ॥

ऐसे में आवत कान्ह सुने तुळसी सु तनी तरकी अँगिया की ।

यो जगि जोति उठी तनकी उसकाय दई मनौं बाती दिया की ॥ ७१ ॥

इस उत्प्रेक्षा की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है । किस प्रकार प्रियतम के आने की सूचना से अन्वकार में प्रकाश फैल जाता है इसका यह दिव्य उदाहरण है ।

रसखान में शब्दों की झंकार सुननी हो तो उनका यह छन्द देखें—

विहरै पिय प्यारी सनेह सजे छहरै चुनरी को शवा शहरै ।

सिहरै नवजोवन रंग अनङ्ग सुभङ्ग अपांगनि की गहरै ॥

बहरै रसखान नदी रस की बहरै बनिता कुलहू भहरै ।

कहरै विरहीजन आतप सो लहरै लली लाल लिए पहरै ॥ ८४ ॥

रसखान ने भाव की दृढ़ता दिखाने तथा उसको दूर तक पहुँचाने के लिए शब्दों को दुहराया क्या तेहराया तक है जिससे उनकी रचना में बल आ गया है प्रमाण के लिए यह सवैया लीजिये—

समझी न कछू अजहुँ हरि सो ब्रज नैन नचाय नचाय हैंसै ।

नित सास की सीरी उसासन सो दिन ही दिन माय की कान्ति नसै ॥

चहुँ ओर ब्या की सौं सोर सुनै मन मेरेउ आवत रीस कसै ।

पै कहा कहौं वा रसखान बिछोकि हियो हुकसे हुकसे हुकसे ॥ ४४ ॥

समझ में नहीं आता कि रसखान को क्या पड़ी थी कि वे भी ऐसी रचना के चक्कर में पड़ गये कहीं 'वश्ल' की भावना ने तो जोर नहीं मारा और उनसे भी अन्त में लिखा ही लिया—

बागन काहे को जाओ पिया घर बैठे ही बाग लगाय दिखाऊँ ।

एही अनार सी मोर रही बहियाँ दोउ चंपे सी डार नवाऊँ ॥

छातिन में रस के निबुआ अरु घूँघट खोलि कै दाख चखाऊँ ।

टाँगन के रसके चसके रति फूलनि की रसखान लुटाऊँ ॥ ८० ॥

रसखान की भाषा के बारे में मौन रहना ही अच्छा है । बोलती हुई भाषा के बारे में अपनी ओर से कुछ बोलना ठीक नहीं होता । रसखान की भाषा चलती हुई, सरस, सरल और सुबोध ब्रज की भाषा है और है सर्वथा स्वच्छ, निर्मल और निर्दोष । शब्द छळकते हुए अपने रूप में चले जाते हैं । उनको बनने-बिग-बने की आवश्यकता नहीं पड़ती और वाक्य में जहाँ के तहाँ अपने आप बड़े टब से बैठते रहते हैं । कहीं कहीं फारसी और अरबी के शब्द भी आ जाते हैं । हाँ, आ जाते हैं बुझाये अथवा लाये नहीं जाते । भाषा की दृष्टि से रसखान की भाषा प्रमाण मानी जाती है, यद्यपि उसका सम्पादन अभी तक ठीक ठीक नहीं हो पाया है ।

मुहावरो के प्रयोग में भी रसखान बड़े ही निपुण हैं । कहते हैं—

‘बैस चढ़े घर ही रह बैठ अटान चढ़े बदनाम चढ़ैगो’।

एक चढ़े से कितना और कैसा काम लिया गया है इसे कोई भी सहृदय देख सकता है । एक सवैया लीजिये और देखियें कि इसमें मुहाविरे के कारण कितना भाव भर गया है—

हेरति बारहि बार उतै यह बावरी बाळ कहाँ घों करैगी ।

जो कहूँ देखि परथो रसखान तौ क्योंहूँ न वीर री घोर घरैगी ॥

मानि है काहू की कानि नहीं जब रूप ठगी हरि रंग ढरैगी ।

याते कहाँ सिख मानि भट वह हेरनि तेरेइ पैर परैगी ॥३९॥

उक्ति के रूप में ‘चंद हाथनि छिपाइबो’ का संकेत कर देना ही पर्याप्त है ।

तात्पर्य यह कि रसखान की भाषा भाव के सवया अनुकूल और समर्थ है। उन्हें कभी अर्थ की चिन्ता नहीं होती। रसखान जी की बात जी में पैठाना जानते हैं और जानते हैं जी में पैठना भी। रसखान के शब्दों में बल है और अक्षरों में गति।

हाँ, तो रसखान की उदार दृष्टि में पुराण को भी स्थान है और कुरान को भी। परन्तु उनका लक्ष्य है सदा प्रेम ही। रसखान कहते हैं—

‘शास्त्रन पढ़ि पंडित भये, कै मौलवी कुरान।

जु पै प्रेम जान्यों नहीं, कहा कियो रसखान ॥१३॥

—प्रेम-वाटिका।

और ब्रह्म का साक्षात्कार रसखान को कहाँ हुआ था, हुआ था, इसे भी जान लें। स्वयं लिखते हैं—

ब्रह्म मैं दृष्टो पुरानन गायन वेद रिचा पढ़ी चौगुने चायन।

देख्यो मुन्यो न कहूँ कबहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन ॥

दूँदत दूँदत दूँदति फिरयो रसखान बतायो न लोग लुगायन।

देख्यो दुरयो वह कुंज कुटीर में बैठ्यो पलोटत राधिका पायन ॥१०८॥

इस ब्रह्म को और भी रंगे रूप में देखना हो तो रसखान से देखना सीखें और पालन तथा संहार के द्वेष को मिटा दें। रसखान का सच्चा उल्लास है—

इक ओर किरिटी लसै दुसरी दिसि नागन के गन गाजत री।

मुरली मधुरी धुनि ओठन पै तुरही कलनाद सो बाजत री ॥

रसखान पितम्बर एक कँधा पर एक बघंवर लाजत री।

अरी देखहु संगम लै बुझकी निकसे वर वेष विराजत री ॥११६॥

स्मरण रहे, रसखान की दृष्टि में हर और हरि में कोई भेद नहीं। तभी तो कहते हैं—

यह देखि घतूरे के पात चबात सुगात में घूरि लगावत हैं।

चहुँ ओर जटा अटकी ळटकैं सुभ सीस फनी फहरावत हैं ॥
 रसखान जोई चितवै चित दै तिनके दुख द्रुम्द भजावत हैं ।
 गज खाळ कपाल की माळ घरे हरि गाल बजावत आवत हैं ॥११७॥

शिव जो इस प्रकार विष खाते फिरते और मग्न रहा करते हैं उसका कारण क्या है ? यदि आप न जानते हों तो रसखान से पूछ देखें—

बैद की औषधि खाइ कछू न करौं वह संजम री सुनि मोसैं ।
 तेरोइ पानी पियैं रसखान सजीवन जानि लहै सुख तोसैं ॥
 एरी सुषामयी भागीरथी सब पथ्य कुपथ्य बनैं तोहिं पोसैं ।
 आक घतूरो चबात फिरैं विष खात फिरैं सिव तेरे भरोसैं ॥११८॥

यह सब तो हुआ किन्तु यह रहस्य ब खुला कि ब्रह्म ने रूप घर के यह सब कुछ किया क्यों ? अरे ! इसी को खोलने के हेतु तो रसखान को यह रचना पड़ा—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं ।
 जाहि अनादि अनन्त अखंड अछेद अमेद सुवेद बतावैं ॥
 नारद लै सुक व्यास रटै पचिहारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
 ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछि पै नाच नचावैं ॥११९॥

अस्तु रसखान की खुली घोषणा और दृढ़ विश्वास है कि कृष्ण के होते किसी का डर नहीं ।

द्रौपदी औ गनिका गज गीघ अजामिल सों कियो सो न निहारो ।
 गौतम गेहिनी कैसी तरी प्रह्लाद को कैसो हरयो दुख भारो ।
 काहे को सोच करै रसखान कहा करि है रबिनंद बिचारो ।
 कौन की संक परी है जु माखन चालन हारो है राखन हारो ॥१२०॥

निदान रसखान का निनाद है—

कंचन के मन्दिरनि दीठि ठहराति नाहि,

सदा दीपमाला लाल रतन उजारे सों ।
 और प्रभुताई सब कहाँ ळौ बखानों,
 प्रतिहारिनि की भीर भूप टरत न द्वारे सों ॥
 गंगा जू में न्हाय मुक्ताहल हू लुटाय,
 वेद बीस बार गाय ध्यान कीजत सकारे सों ॥
 ऐसे ही भये तौ कहा दीख रसखान जु पै,
 चित्त दें न कीन्ही प्रीति पीत पटवारे सों ॥१३४॥

बस, 'पीतपटवारे' से प्रीति करो, यही रसखान का उपदेश है और है यही उनकी कविता का मधुर रस भी । कहिये, क्या इच्छा है ! है न रसखान सचमुच रसखान ही ।

